

जैन कथाएं

लेखक- अध्यात्म योगी श्री पुष्कर मुनिजी

संपादक- श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री
श्री चन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक-
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राज.)



भाग २२

विक्रम-कथा

[राजा विक्रमादित्य से सम्बन्धित कथाएँ]

जैन कथाएं

लेखक-अध्यात्म योगी श्री पुष्कर मुनिजी
संपादक-श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री
श्री चन्द सुराना 'सरस'

श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थमाला : पुष्प ७५

अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनिजी के दीक्षा-स्वर्णजयंती
समायोजन के पुनीत उपलक्ष्य में प्रकाशित

● प्रकाशन

वि० सं० २०३४ आषाढ शुक्ला ३
वीर निर्वाण संवत २५०३
ईस्वी सन् १९७७ जून

● मुद्रण

श्रीचन्द सुराना के लिए
शैल प्रिन्टर्स, माईथान, आगरा

प्रकाशक -
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राज.)

● शाखा कार्यालय—

व्यवस्थापक—मूर्वीलाल जी मागीलाल जी मांगी
१५५/२ गणेश पैठ, मारद्दीमदन, पूना-२

मूल्य : तीन रुपया सिर्फ

प्रकाशकीय

कहानी लोक-साहित्य का हृदय है। साक्षर-निरक्षर, बालक, वृद्ध, धनवान या निर्धन सभी के लिए वह समान रूप से उपयोगी है। कहानी साहित्य की यह एक विशेषता है कि वह जितनी सुनी और पढ़ी जाती है उतनी ही सहज रूप से स्मरण हो जाती है। जीवन में संस्कार प्रदान करने के लिए कहानी से बढ़कर अन्य कोई सुगम साधन नही है। यही कारण है कि विश्व के प्रत्येक अंचल में कहानी साहित्य लोकप्रिय रहा है।

जैन कथा साहित्य बहुत ही विशाल है, जो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और विविध प्रान्तीय भाषाओं में लिखा गया है। श्रद्धेय सद्गुरुवर्य अध्यात्मयोगी श्रीपुष्कर मुनि जी महाराज ने जैन कथाओं को आधुनिक भाव-भाषा में प्रस्तुत कर हिन्दी साहित्य को एक महान देन दी है। कथाओं की भाषा प्राञ्जल और परिष्कृत है। कथाओं की घटनावस्तु रोचक व आकर्षक है। पुनः पुनः कथाओं को पढ़ने का मन होता है।

इन कथाओं के सम्पादन का श्रेय समर्थ साहित्यकार श्री देवेन्द्र मुनि जी व कलम-कलाधर श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' को है। श्री देवेन्द्र मुनिजी को अनुशीलनात्मक गम्भीर ग्रन्थों के प्रणयन में लगे रहने से व लम्बे-लम्बे विहार में समयाभाव रहा

अतः सम्पादन के कार्य को श्री 'सरस' जी ने बहुत ही शीघ्र आगे बढ़ाया अतः हम 'सरस' जी के हार्दिक आभारी हैं। हमारा संकल्प था कि पूज्य गुरुदेव श्री के दीक्षा-स्वर्णजयन्ती के पावन प्रसंग पर जो इस वर्ष ही आ रहा है उस समय के पूर्व ही कथाओं के २५ भाग प्रकाशित हो जायँ वह अब सम्पन्न होने जा रहा है। प्रबुद्ध पाठक, जो सत्साहित्य की खोज में इधर-उधर भटक रहे हैं उनको एक प्रेरक-रोचक व जीवन-निर्माणकारी साहित्य प्राप्त हो सकेगा ऐसी हमारी योजना है।

पूज्य गुरुदेव श्री के असीम उपकार का हम क्या आभार मानें! जो कुछ भी है, वह उन्हीं की कृपा का फल है, पर उनके सुयोग्य शिष्यरत्न समर्थ साहित्यकार श्री देवेन्द्र मुनि, काव्यतीर्थ रमेश मुनिजी, उदीयमान साहित्यकार राजेन्द्र मुनि जी, दिनेश मुनिजी, सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्रीचन्द्रजी सुराना 'सरस' का आभार अवश्य मानेंगे जिन्होंने साहित्य-सेवा के लिए मंगल-मय प्रेरणा ही प्रदान नहीं की, बल्कि सहयोग भी प्रदान किया।

साथ ही इस प्रकाशन में जिन उदार सज्जनों ने अर्थ सहयोग देकर संस्था को प्रोत्साहित किया है उनका भी आभार मानकर उनके अनुकरणीय सहयोग का सत्कार करते हैं।

आशा है हमारा यह प्रयत्न 'जैन-कथाएँ' के रूप में—'बाल-स्त्री-वृद्ध-मूर्खाणां' की उक्ति के अनुसार 'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय' होगा।

मन्त्री

—श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय

सम्पादकीय

साहित्य में 'कथा' सबसे अधिक सरल, सरस और शीघ्र प्रभावकारिणी विधा है। विश्व के साहित्य में कथा साहित्य सर्वाधिक प्रिय रहा है, इसलिए अन्य साहित्य की अपेक्षा उसका विस्तार भी वहुत व्यापक स्तर पर हुआ। भारतीय साहित्य में भी कथाओं के रूप में विशाल साहित्य की विशिष्ट निधि है।

भारतीय कथा साहित्य में भी जैन एवं बौद्ध कथा साहित्य अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं। श्रमण परम्परा—जैन एवं बौद्धों ने भारतीय कथा साहित्य की न केवल श्रीवृद्धि की है, अपितु उसको नयी दिशा भी दी है। कथा का मूल प्रयोजन, मनोरंजन तथा मनोरंजन के माध्यम से शिक्षा देना रहा है। श्रमण परंपरा के कथा-साहित्य में कथा सिर्फ मनोरंजन के लिए नहीं, किन्तु मनोरंजन के साथ ही वैराग्य, आचार, धर्म, दर्शन, नीति, पुनर्जन्म कर्म-फल आदि विषयों की सजीव अभिव्यक्ति करना रहा है। बौद्धों की जातक कथाएँ भी प्रायः इसी शैली पर हैं। जैन कथा साहित्य का तो मूल लक्ष्य ही रहा है—"कथा के माध्यम से त्याग, सदाचार, नैतिकता आदि की कोई न कोई सत्प्रेरणा देना।"

आगमों से लेकर पुराण, चरित्र, काव्य, रास, एवं लोककथाओं के रूप में जैन-धर्म की हजारों-हजार कथाएँ प्रसिद्ध हैं। अधिकतर कथा-साहित्य प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, गुजराती एवं राजस्थानी भाषा में होने के कारण, और वह भी पद्य-बद्ध होने

के कारण बहुसंख्यक पाठक उससे लाभ नहीं उठा सकता, सिर्फ उसकी महिमा एवं वर्णन सुनकर ही कुछ जान पाता है।

जैन कथा साहित्य की इस अमूल्य निधि को आज की लोक-भाषा—राष्ट्रभाषा हिन्दी के परिवेश में प्रस्तुत करना अत्यन्त आवश्यक है। इधर में कुछ सुन्दर प्रयास भी प्रारम्भ हुए हैं जिससे जनता को कथा-साहित्य पढ़ने को प्राप्त हुआ है। पर अपार, अथाह कथा-सागर का आलोड़न किसी एक व्यक्ति से संभव नहीं है। जैसे जगन्नाथ के रथ को हजारों हाथ मिलकर खींचते हैं, उसी प्रकार प्राचीन कथा-साहित्य के पुनरुद्धार के लिए अनेक मनस्वी चिन्तकों के दीर्घकालीन प्रयत्नों की अपेक्षा है। इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु पूज्य गुरुदेव श्री पुष्करमुनि जी महाराज वर्षों से प्रयास कर रहे हैं। उन्होंने अपने विशाल अध्ययन-अनुशीलन के आधार पर सैंकड़ों कथाएँ लिखी हैं, जो प्राचीनतम सभ्यताओं, संस्कृतियों और मानव-स्वभावों को परखने में उपयोगी है।

पूज्य गुरुदेव श्री द्वारा लिखित गद्य-पद्यात्मक उस विराट् कथा साहित्य के सम्पादन का उत्तरदायित्व हमें प्राप्त हुआ है। हम उस प्रयत्न में कहाँ तक सफल हो सके हैं इसका निर्णय विज्ञ पाठक करेंगे। हमें तो इस बात की प्रसन्नता है कि साहित्य सेवा का सुअवसर प्राप्त हुआ और जनता के लिये सत्साहित्य के रूप में एक सद्‌मित्र को प्रस्तुत करने का प्रसंग आया।

—देवेन्द्र मुनि

—श्रीचन्द सुराना 'सरस

लेखकीय

जैन कथासाहित्य : प्रयोजन और स्वरूप

जैन आगमों के ऐतिहासिक अनुशीलन से यह पता चलता है कि भगवान महावीर अपने धर्मोपदेश में कथा-कहानियाँ-रूपक आदि का प्रयोग कर धर्म एवं तत्वज्ञान के गम्भीर तत्व को अधिक से अधिक सरल, सुगम, सुबोध और रुचिकर बनाने में अत्यन्त निपुण थे। 'नायाधम्मकहा, विपाकसूत्र, निरयावलिका, उत्तराध्ययन आदि आगमों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भगवान महावीर ने हजारों ऐसे दृष्टांत और रूपकों का प्रयोग अपनी देशना में किया था। दुर्भाग्य से उनमें से कुछ ही अंश आज प्राप्त हैं और काफी अंश विलुप्त हो गया है।

भगवान महावीर के उपदेशों में अधिकतर लघु-कथा, आख्यायिका और लघुरूपकों का प्रयोग ही हुआ करता था। उन कथाओं के पीछे एक पवित्र प्रयोजन रहता था—कि श्रोताओं की शुभ-वृत्तियाँ जागृत हों, असद्कर्म से निवृत्त होकर शुभकर्म-प्रवृत्ति की प्रेरणा प्राप्त हो; कथा-रचना में ऐसा उच्च एवं उदात्त आदर्श जैनकथा वाङ्‌मय की अपनी विशिष्टता है। साधारणतः कथा का प्रयोजन मनोरंजन होता है, पर, जैनकथा के विषय में यह अधिकारपूर्वक कहा जा सकता है कि उसका प्रयोजन मनोरंजन मात्र नहीं है, किन्तु मनोरंजन के साथ किसी उच्च

आदर्श की स्थापना करना, अशुभकर्मों का कटुफल-परिणाम बताकर शुभकर्म की ओर प्रेरित करना रहा है। उच्चतर सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करना, व्यक्तित्व के मूलभूत गुण—साहस, अनुशासन, चातुरी, सज्जनता उदारता, सदाचार एवं व्रतनिष्ठा आदि को प्रोत्साहित करना तथा उनके चरित्र में उन संस्कारों को बद्धमूल करना—यही जैन कथा साहित्य का मूल प्रयोजन है।

आगम साहित्य के बाद में जो कथा साहित्य रचा गया, उसकी धारा में एक नया परिवर्तन आया। आगमगत कथाओं चरित्रों और महापुरुषों के छोटे-मोटे जीवन प्रसंगों को लेकर मूल कथा वस्तु में अवान्तर कथाओं का संयोजन तथा मूल चरित्र को पूर्वजन्मों की घटनाओं से समृद्ध कर कथा वस्तु का विकास और विस्तार करना यह पश्चाद्वर्ती कथा साहित्य की एक शैली बनगई। इस कथा शैली पर रामायण, महाभारत एवं जातक शैली का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसे हम पौराणिक कथाशैली कहें तो इस शैली का सबसे प्राचीन जैन कथाग्रन्थ वसुदेव-हिंडी है, जो (प्राकृत-गद्यबहुल) प्राचीनतम आकर कथाग्रन्थ है। इसके बाद वाल्मीकिरामायण की शैली पर विमलसूरि ने 'पउम चरियं' एवं व्यास के महाभारत की अनुकृति पर 'हरिवंस चरियं' जैसे दो विशाल कथा ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। इसके पश्चात् तो पौराणिक शैली इतनी लोकप्रिय हुई कि महापुरुषों के जीवन चरित्रों को आधार बना कर 'चउप्पन्नमहापुरिस चरियं' 'त्रिषष्टि शलाकापुरुषचरित्र' आदिनाथचरित्र शांतिनाथचरित्र,

मल्लिनाथचरित्र, नेमिनाथचरित्र, पार्श्वनाथचरित्र, महावीर चरित्र, आदि अनेक तीर्थंकरों, चक्रवर्ति-वासुदेव, वलदेवों आदि के स्वतन्त्र चरित्र ग्रन्थों की रचनाएँ हुई। और इन चरित्र ग्रन्थों में सैकड़ों अवान्तर कथाओं की संयोजना कर उन्हें रोचक और विस्तृत वनाया गया।

आख्यायिका पद्धति पर भी जैनाचार्यों ने अनेक सरस कथा ग्रन्थों की रचना की। पादलिप्तसूरि की 'तरंगवती' अथवा तरंगलोला' हरिभद्रसूरिकी 'समराइच्चकहा 'उपदेशपद', उद्योतन-सूरि की 'कुवलयमालाकहा' विजयसिंहसूरि की 'भुवनसुन्दरीकथा', जिनेश्वरसूरि की 'निर्वाण लीलावती कथा' आदि आख्यायिका कथा शैली के प्रमुख एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

कथा ग्रन्थों की रचना में एक तीसरी शैली का विकास भी हुआ जिसे हम 'कथाकोष' या कथा-संग्रह के रूप में आज प्राप्त करते हैं। जिनेश्वरसूरि का 'कथाकोप प्रकरण', 'आम्रदेव सूरिकृत —'आख्यानकमणिकोष' हरिषेणकृत 'वृहत्कथा कोप' धर्मदास गणिकृत 'उपदेशमाला' तथा शुभवर्धनगणिरचित 'वर्धमान देशना' आदि विविध कथा-कुसुमों के गुलदस्ते के रूप में ये कथाग्रन्थ छोटे-छोटे कथानकों के द्वारा सत्कर्म की शुभ प्रेरणा-पराग फैला रहे हैं। अनेक विद्वान आचार्यों ने समय-समय पर किसी एक पौराणिक चरित्र को लेकर, किसी काव्यगतकथा सूत्र को लेकर या अन्य स्वतन्त्ररूप से भी कथा-सर्जन कर सैकड़ों कथा ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं। ये कथा ग्रन्थ पहले प्राकृत में रचे जाते थे, फिर संस्कृत शैली चली, फिर अपभ्रंश युग आया तो अपभ्रंश में भी,

लिखे गये और बाद में अनेक जैनकवियों ने गुजराती, गुजराती-मिश्रित राजस्थानी में रास, चौपाई, बखाण के रूप में सैकड़ों सरस रोचक और प्रेरणाप्रद कथा-काव्यों की सृष्टि से सरस्वती के भण्डार को समृद्ध किया। परम्पराओं की भिन्नता, अनुश्रुतियों का अन्तर एवं समय के दीर्घ-व्यवधान के कारण कथासूत्रों में परस्पर भिन्नता और घटनाओं का जोड़-तोड़ भी काफी भिन्न हो गया। अनेक कथाएँ तो ऐसी हैं, जो बड़ी प्रसिद्ध होते हुए भी कथा ग्रन्थों में बड़ी भिन्नता लिये रहती हैं। कुछ कथाएँ आगमों में वर्णित है, उनको पश्चात्‌वर्ती साहित्य में अवान्तर कथाएँ जोड़ कर विस्तृत भी कर दिया गया है।

कथा सूत्रों की इस विविधता को देखकर यह प्रयत्न करना कि कथा का मूल स्रोत कहाँ है, कैसा है, उसमें जो मतभेद या अवान्तर कथाएँ हैं वे मान्य हो या नहीं—यह कार्य सिर्फ जल-मंथन जैसा ही होगा। कथाओं की ऐतिहासिकता की खोज के बजाय हमारा लक्ष्य उनकी प्रेरकता की ओर रहना चाहिए। हजारों लेखकों ने भिन्न-भिन्न देश-काल में जो कथा ग्रन्थ रचे हैं उनमें मत-भिन्नता, कथा सूत्र का जोड़-तोड़ भिन्न प्रकार का तथा नाम आदि की भिन्नता होना सहज ही है। अनेक कथा ग्रन्थों के पर्यवलोकन से हमारा यह विश्वास बना है कि हमें प्राचीन ग्रन्थों की 'शव-परीक्षा' न करके 'शिव-परीक्षा' (कल्याणकारी तत्व की परीक्षा) करने की आदत डालनी चाहिए। जिस कथा-ग्रन्थ में जहाँ जो उच्च आदर्श, प्रेरकतत्व और जीवन-निर्माणकारी मूल्यों के दर्शन होते हैं, उन्हें बिना किसी भेदभाव के ग्रहण कर लेना चाहिए।

अनेक ग्रन्थों में ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही कथानक अलग-अलग प्रसंग में अलग-अलग रूप में अंकित मिलता है। कहीं कथानक का पूर्वार्ध देकर ही उसको छोड़ दिया है, कहीं उत्तरार्ध, कहीं कुछ अंश ही, ऐसी स्थिति में कथासूत्रों को सम्पूर्ण रूप में, लिखना बड़ा कठिन हो जाता है, और उनमें विवादास्पद प्रश्न भी खड़ा हो सकता है। हमने ऐसे प्रसंगों पर प्रयत्न यह किया है कि जहाँ तक जो कथासूत्र परिपूर्ण मिला है उसे दो-तीन कथा ग्रन्थों के सन्दर्भों से जोड़कर पूर्ण करने का प्रयत्न किया है, किन्तु कथा साहित्य की विशालता और विविधता को देखते हुए किसी कथानक की पूर्णता, समग्रता और प्राचीनता की पूर्ण गारण्टी तो नहीं दी जा सकती।

प्रस्तुत कथा भाग :

विक्रमादित्य : एक चिन्तन

जैन कथाएँ के भाग २१ से २४ तक के चार भागों में महाराज विक्रमादित्य से सम्बन्धित अनेक कथाएँ ली गई हैं। इन कथाओं में साहस, धैर्य, चातुर्य, औदार्य, दान, परोपकार, न्याय एवं नीति से सम्बन्धित अनेक प्रसंग है। कुछ प्रसंगों में सहज बुद्धि कौशल का दर्शन होता है तो बहुत से प्रसंगों में अति मानवीय चमत्कार तथा कौतुक आचरणों से कथा सूत्र को दिलचस्प तथा मनोरम बनाया गया है।

कथा के भेद प्रभेदों में सम्राट विक्रमादित्य का चरित्र 'परीकथाएँ' की श्रेणी में रखा जाता है। इसमें चमत्कार पूर्ण

है। प्रबन्धकोष में विक्रमादित्य पुत्र विक्रमसेन की कथा तथा चार चामर धारिणी पुतलियों की कथा भी दी गई है।[1]

विक्रमादित्य एवं विक्रमसेन (विक्रमपुत्र देवकुमार) पर जैनाचार्यों द्वारा लिखित साहित्य की एक तालिका यहाँ प्रस्तुत है—

१	विक्रमचरित्र	देवमूर्ति उपाध्याय	२४ सर्ग रचना	सं० १४७१
२	विक्रमचरित्र	शुभशीलगणि	१२ अध्याय	सं० १४९९
३	पंचदण्ड छत्रकथा	पूर्णचन्द्र सूरि	गद्य	लगभग १५वीं शती
४	पंचदण्ड छत्रकथा	रामचन्द कवि	पद्य	सं० १४९०
५	अघटकुमार कथा	जिनकीर्ति		

—इसका जर्मन अनुवाद डा० कुमारी चार्लोस् काऊस ने सन् १९२२ में किया।

हमने प्रस्तुत कथा भागों में विक्रमादित्य का चरित्र शुभशील गणिकृत विक्रमचरित्र के आधार (हिन्दी में अनुवादित मुनिश्री नन्दनविजय जी) पर लिखा है। इसमें सिंहासन बत्तीसी और बैताल पच्चीसी की कथाएँ नहीं हैं। कुछ कथाएँ नारी चरित्र पर आक्षेपात्मक प्रतीत होती हैं उनका भी हमने ग्रहण नहीं किया है। अघटकुमार, जो विक्रमादित्य की सेवा में आकर रहा है और अपने आत्मबल के बल पर अग्निवेताल को अपने संकेत पर नचाने लगता है का कथानक भी दिया है।

---

१ विशेष वर्णन के लिए—विक्रमादित्य इन जैन ट्रेडिशन-हरि दामोदर वेलेकर का लेख देखें विक्रम वोल्यूम, सिंधिया प्राच्य परिषद् उज्जैन से सन् १९४८ में प्रकाशित।

विक्रमपुत्र विक्रमसेन, अथवा विक्रमचरित्र उर्फ देवकुमार का रोचक चरित्र भी एक भाग (२४) में ले लिया है।

विक्रमादित्य के जीवन से सम्वन्धित सभी कथानकों का हमने अनुवाद मात्र नहीं किया है किन्तु अपनी शैली एवं दृष्टि से उनका वर्गीकरण करके यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम खण्ड में विक्रमादित्य से सम्वन्धित साहस कथाएँ ली गई हैं। इसमें विक्रम और भर्तृहरि के कथासूत्र से प्रारम्भ कर विविध प्रसंगों की १७ कथाएँ ली हैं। १२वीं कथा सुरसुन्दरी उर्फ चौबोली विक्रमादित्य के जीवन से सम्वन्धित होते हुए भी विक्रमचरित्र के राज्यतिलक के अवसर पर चार चामर धारिणी द्वारा सुनाई जाती है वह वास्तव में विक्रमादित्य की जीवन कथा होने से इसी खण्ड में ली गई है। चोबोली की इसी प्रकार की एक कथा राजा भोज से भी सम्वन्धित है।

दूसरे खण्ड में विक्रमादित्य की धर्म एवं नीति सम्बन्धी कथाएँ ली गई हैं। इसमें सिद्धसेनसूरि का सम्पर्क, उनके द्वारा प्रतिबोध, कुछ सुनाई हुई उपदेश कथाएं भी हैं। इसी खण्ड में कालिदास और विक्रमादित्य के सम्पर्क की कथा भी प्रस्तुत की है। लोक प्रचलित कथाओं में और इस कथा में कहीं-कहीं कुछ मतभेद भी हो सकता है। इस की अन्तिम कथा 'मत्स्य हास्य का रहस्य' नारी चरित्र से सम्वन्धित है।

तीसरे खण्ड में विक्रमादित्य की कौतुक कथाएँ हैं। पंचदण्ड छत्र की प्राप्ति, दामिनी (देवदमनी) जादूगरनी, खप्पर (खपरिया) चोर, सुकोमला का नरद्वेष आदि अनेक कौतुकता प्रधान कथाओं

में विक्रमादित्य अग्नि वेताल की सहायता से अद्भुत पराक्रम एवं चातुर्य प्रदर्शन करता हैं। इन कथाओं में भी साहस, चातुर्य आदि गुणों का उद्घाटन होता है, पर कौतुक अधिक होने से इन्हें कौतुक कथाओं में ही रखा है।

चौथे खण्ड में **देवकुमार** (विक्रमचरित्र) जो सुकोमला का अंगजात, विक्रमादित्य का पुत्र है उसका कौतुक चरित्र है। पिता से मिलने की उसकी अद्भुत प्रक्रिया कुछ वैसी है जैसी पुरानी कथाओं में महामति अभय की श्रेणिक राजा की प्रथम मुलाकात में होती हैं। विक्रमचरित्र की भाग्य-परीक्षा भी अनेक कौतुकता पूर्ण घटनाओं से भरी है जिसमें अनेक प्रकार की शिक्षाएँ भी हैं।

जहाँ तक मेरा अनुमान है हिन्दी साहित्य में राजा विक्रमादित्य से सम्बन्धित इतनी रोचक और शिक्षाप्रधान कथाओं का इस प्रकार का संकलन पहली वार ही आ रहा है। मुझे इसके लिए कुछ संस्कृत, गुजराती आदि ग्रन्थों का अवलोकन भी करना पड़ा, पर सव मिलाकर विक्रमकथा का यह रूप पाठकों को रुचिकर और नवीन लगेगा ऐसा विश्वास है।

इस कार्य में श्री देवेन्द्र मुनि एवं श्रीचन्द सुराना का पूर्ण सहयोग रहा है। एतदर्थ मैं उनके श्रम का हार्दिक आदर करता हुआ साधुवाद देता हूँ।

—उपाध्याय पुष्कर मुनि

अनुक्रमणिका

भाग २२



१

सिद्धसेनसूरि और विक्रमादित्य : प्रथम सम्पर्क

[विक्रमादित्य की नीति एवं धर्म कथाएँ]

जिनागम रहस्यवेत्ता गुरुवर वृद्धवादि की चर्चा समस्त दक्षिण-पश्चिम भारत के विद्वानों में बड़े जोरों पर थी। उनके शिष्यों में अग्रणी सर्वज्ञपुत्र सिद्धसेनसूरि भारतीय न्याय एवं साहित्य गगन के देदीप्यमान नक्षत्र माने जाते थे। विद्वानों से लेकर साधारणजन तक की वाणी पर उनका नाम गूंज रहा था। विहार करते हुए एक बार सिद्धसेन सूरि अवन्ती में पधारे और अवन्ती के बाहर राजोद्यान में विराजित हुए।

राजा विक्रमादित्य क्रीड़ा करने के लिए अश्वारूढ़ होकर उद्यान की ओर गये। घोड़े पर जाते हुए राजा ने दूर से राजोद्यान में श्री सिद्धसेन सूरि को देखा तो घोड़े पर चढ़े हुए ही मन-ही-मन सूरीश्वरजी को भाव-वन्दन किया। सूरीश्वरजी ने हाथ उठाकर धर्म लाभ का

आशीर्वाद दिया। जैनमुनि की परीक्षा लेने के विचार से राजा ने उनसे पूछा—

"प्रभो ! मैंने तो आपकी वन्दना ही नहीं की। फिर आपने मुझे धर्मलाभ का आशीष क्यों दिया ?"

सूरीश्वरजी ने राजा से कहा—

"राजन् ! जो वन्दना करता है, उसी को धर्मलाभ दिया जाता है। यद्यपि तुमने ऊपर से दीखने वाली काय-वन्दना नहीं की है, पर मन से भाववन्दना तो की ही है, इसलिए मैंने धर्मलाभ दिया है।" राजा ने घोड़े को एक वृक्ष से बाँध दिया और मुनि की सेवा में बैठा। उनसे धर्मोपदेश सुनकर अपने को कृतार्थ किया।"

कुछ दिन बाद सिद्धसेन सूरि राजा विक्रम की राजसभा में पधारे। उन्होंने द्वारपाल को देववाणी संस्कृत में लिखकर एक श्लोक दिया और कहा, इसे राजा को दे आओ। राजा ने द्वारपाल से लेकर निम्न श्लोक पढ़ा—

भिक्षुर्दिदृक्षुरायातस्तिष्ठति द्वारि वारितः।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोकः किं वाऽऽगच्छतु गच्छतु ॥

अर्थात् [अपने] हाथ में चार श्लोक लेकर आपसे मिलने के लिए एक भिक्षुक [द्वार पर] आया है। अतः क्या वह [आपसे मिलने] आये अथवा [बिना मिले ही लौटकर] चला जाये ?

राजा वीर विक्रमादित्य स्वयं भी संस्कृत काव्य के मर्मज्ञ और ज्ञाता थे। अतः उन्होंने उक्त श्लोक के उत्तर में निम्न श्लोक लिखकर द्वारपाल को दिया—

दीयन्तां दश लक्षाणि शासनानि चतुर्दश।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोको यद्वाऽऽगच्छतु गच्छतु ॥

अर्थात् [इस विद्वान को] दस लाख मुद्राएँ तथा चौदह नगर का शासन दो। इसके वाद यदि वह चाहे तो हमसे मिलने राजसभा में आये और जाना चाहे तो जाये।

श्री सिद्धसेन सूरि ने अपने श्लोक के उत्तर में राजा का लिखा श्लोक पढ़ा तो विचार किया—'राजा विक्रमादित्य काव्यकारों का आदर तो करता ही है, स्वयं भी वहुत वड़ा काव्यमर्मज्ञ और काव्यस्रष्टा है। मेरे लिखे हुए चारों श्लोकों की व्यंजनापूर्ण लाक्षणिक भाषा अवश्य ही उसे तुष्ट करेगी।'

यह सोचकर स्वरचित चार श्लोक लेकर वे राजसभा में पधारे। सिंहासन से उठकर राजा ने वन्दन-नमस्कार किया और सूरीश्वर को गुरु आसन पर वैठाकर स्वयं भी सिंहासन पर वैठा। तदनन्तर सूरीश्वरजी ने राजा के समक्ष सुन्दर-ललित और लक्षणा-व्यंजना शब्दशक्तियों से गर्भित निम्न श्लोक पढ़ा—

अपूर्वेयं धनुर्विद्या भवता शिक्षिता कुतः।
मार्गणौघः समभ्येति गुणो याति दिगन्तरम् ॥१॥

अर्थात् [हे राजन् !] आपने यह अपूर्व और विलक्षण धनुर्विद्या कहाँ से सीखी है। धनुष से शरसंधान करते समय गुण (प्रत्यंचा अथवा डोरी) तो अपने पास आता है और वाण दूर चला जाता है। लेकिन आपकी धनुर्विद्या में ऐसी अपूर्व विलक्षणता है कि (तीर-मार्गणौघ-यांचक समूह) तीर तो आपके समीप आता है और गुण दूर—दिग्-दिगन्त में चला जाता है। भाव यह है कि याचक समूह रूपी वाण तो आपके पास रहता है और आपकी प्रसिद्धि रूपी गुण (डोरी) दूर—दिग्दिगन्त में चला जाता है। राजा विक्रमादित्य ऐसे दानी हैं कि दूर-दूर से याचकजन उनके पास आते हैं और उनकी उदारता तथा दानवीरता की कीर्ति दूर-दूर तक फैल जाती है।

गागर में सागर भरने वाले इस श्लोक को सुनकर राजा विक्रमादित्य दक्षिण दिशा की ओर मुँह करके बैठ गए। इस प्रकार उन्होंने यह प्रकट किया कि मैं पूर्व दिश का राज्य कविवर सूरीश्वरजी को अर्पित करता हूँ।

इसके वाद कवि श्री सिद्धसेन सूरि ने दूसरा श्लो पढ़ा—

सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या संस्तूयसे बुधैः ।
नाऽरयो लेभिरे पृष्ठं न वक्षः परयोषितः ॥२॥

[राजन् ! बड़े-वड़े कवि लोग आपके वारे में ऐस कहते हैं कि आप] सभी चीजों का [मुक्त हस्त से] दा

करते हैं। लेकिन उनका यह कथन सर्वथा मिथ्या (झूठी शैली) ही है। आपका शत्रु आपकी पीठ को कभी प्राप्त नहीं करता—आप अपने शत्रु को कभी भी पीठ नहीं देते। इसी तरह पर-स्त्री आपका वक्षस्थल नहीं प्राप्त कर सकती, अर्थात् आप परदारा-भोगी नहीं हैं। अतः आप सब चीजों के दाता कहे जाते हैं, यह कैसे सम्भव है ?

व्याजस्तुति (निन्दा के बहाने प्रशंसा करने वाले) के इस श्लोक को सुनकर राजा विक्रमादित्य बहुत प्रसन्न हुए और पश्चिम की ओर मुँह करके संकेत दिया कि ऐसे विचक्षण कवि को मैं दक्षिण का राज्य देता हूँ। इसके बाद सूरीश्वरजी ने तीसरा श्लोक इस प्रकार पढ़कर सुनाया—

> त्वत्कीर्तिर्जाति जाड्येव चतुराम्भोधिमज्जनात् ।
> आतपाय महीनाथ ! गता मार्त्तण्ड मण्डलम् ॥३॥

अर्थात् हे राजन् ! समुद्र में स्नान करने से ठण्डी होने के कारण अब आपकी कीर्ति धूप की इच्छा से सूर्यमण्डल में गई है। अर्थात् समुद्र पर्यन्त व्याप्त आपकी कीर्ति अब स्वर्ग तक ऊपर उठी हुई है और जैसे सूर्य किरणें दसों-दिशाओं में व्याप्त होती हैं, उसी प्रकार आपका यश चारों ओर फैला हुआ है।

इस श्लोक से परम प्रसन्न और तुष्ट होकर राजा वीर विक्रमादित्य ने अपना मुँह उत्तर की ओर कर लिया,

अर्थात् पश्चिम का राज्य सूरीश्वर को दिया। इसके अनन्तर कवि सम्राट सूरीश्वरजी ने चौथा श्लोक इस प्रकार पढ़ा—

आहवे तव निःस्वाने स्फुटितं रिपुहृद्घटैः।
गलिते तत्प्रियानेवे राजन् चित्रमिदं महत् ॥४॥

हे राजन् ! संग्राम में आपकी गर्जना सुनकर शत्रु का हृदयरूपी घट फुट जाने पर उसका पानी शत्रु पत्नी की आँखों से [आँसुओं के रूप में] वहता है। अर्थात् युद्ध-भूमि में शत्रु के मारे जाने पर उसकी पत्नियाँ रोने लगती हैं, मानो उनकी आँखों से फूटे हुए घड़े का पानी वह रहा है।

इसके वाद सूरीश्वर जी ने एक श्लोक और भी पढ़कर सुनाया; यथा—

सरस्वती स्थिता वक्त्रे, लक्ष्मी करसरोरुहे।
कीर्तिः किं कुपिता राजन् ! या न देशान्तरं गता ॥५॥

हे राजन् ! आपके मुख में सरस्वती का वास है और चंचला लक्ष्मी आपके हाथ में है, फिर भी जाने क्यों आपकी कीर्ति आपसे क्रुद्ध होकर देश-देशान्तरों को चली गई। अर्थात् आप इतने पुण्यात्मा हैं कि सरस्वती-लक्ष्मी--दोनों की समान कृपा आप पर हैं और आपका यश चारों ओर फैला हुआ है।

दो अर्थवाले, श्लिष्टपदी और लक्षण-व्यंजना शब्द-शक्तियों से युक्त देववाणी संस्कृत में रचित उक्त श्लोकों को सुनकर राजा विक्रमादित्य इतने चमत्कृत और प्रभावित हुए कि श्रद्धाभिभूत होकर सिंहासन से नीचे उतरे और हाथ जोड़कर महापण्डित सूरीश्वर जी से बोले—

"हे प्रभो ! हाथी, घोड़े, रथ, रत्न आदि से युक्त मेरे इस राज्य को स्वीकार कीजिए।"

सूरीश्वर जी ने राजा से कहा—

"राजन् ! अपने माता-पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त समस्त राजवैभव को तो मैं पहले ही त्याग चुका हूँ। हम जैसे तपस्वियों के लिए तो शत्रु-मित्र, स्वर्ण-प्रस्तर, मणि और मिट्टी तथा स्वर्ग और संसार समान ही हैं। भिक्षान्न ही हमारे लिए सर्वस्व है। तुम्हारा राज्य और धन मेरे किस काम का ?"

सिद्धसेनसूरि की निस्पृहता और विरक्तिभाव से गद्-गद् होकर राजा विक्रमादित्य ने वार-वार उनके श्रीचरणों में वन्दन किया। उसके वाद सूरीजी ने अन्यत्र विहार कर दिया।

□

२

विक्रम का जैन धर्मानुराग

प्रतिष्ठानपुर के राजोद्यान में एकान्त शान्त स्थान पर बैठे श्री सिद्धसेन सूरि (कुमुदचन्द्र) विचार चिन्तन में सोच रहे थे—

'जिन भगवान द्वारा कथित ज्ञान (आगम) प्राकृत भाषा में है, जिन्हें जैनेतर संस्कृत विद्वान समझ भी नहीं पाते और प्राकृत भाषा को कुछ अवज्ञा की दृष्टि से भी देखते हैं। क्या ही अच्छा हो कि उनकी वाणी और उपदेशों को मैं देववाणी संस्कृत में रूपान्तरित कर दूँ। प्राकृत से संस्कृत में रूपान्तर करना जिनवाणी के प्रचार के लिए एक बहुत बड़ा कार्य होगा। अपने विचार को क्रियान्वित करने के उद्देश्य से सूरीश्वर जी ने नमस्कार मन्त्र का संस्कृत रूपान्तर किया और उसे लेकर अपने गुरु वृद्धवादि के पास पहुँचे। वन्दन-नमस्कार करके बोले—

"गुरुदेव ! प्राकृत भाषा में बने हुए जो वन्दनादि सूत्र हैं, वे विद्वानों के सामने शोभा नहीं देते। अतः आपकी

ादेश प्राप्त कर मैं ऐसे समस्त वाङ्मय की रचना देव-
ाणी संस्कृत में करना चाहता हूँ।"

शिष्य प्रवर श्री सिद्धसेन सूरि के विचार से चकित
ुब्ध होकर गुरुवर वृद्धवादि ने कहा—

"महाभाग! गौतमादि गणधर और समस्त शास्त्रों
ं पारंगत अन्य रचयिता और वक्ता क्या उक्त सूत्रों की
चना संस्कृत में करना नहीं जानते थे? चाहते तो वे भी
ंस्कृत में सूत्र रचना कर सकते थे। लेकिन जनता की
लाई के लिए तथा सभी साधारण बुद्धि मनुष्य उनको
मझ सकें, इस विचार से उन दूरदर्शी महापुरुषों ने सूत्रों
ी रचना प्राकृत में की। इसलिए तुमने ऐसा सोचकर
जनवाणी की और ज्ञानी गणधरों की अवज्ञा की है, तुमने
हान पाप और अशुभ कर्म का उपार्जन किया है। निश्चय
ी इस पाप से तुम दुर्गति को प्राप्त करोगे। तुमने
सिद्धान्त की आशातना की है, इसलिए तुम्हें भव-भ्रमण
रना पड़ेगा।"[1]

गुरु के उपालम्भ व भर्त्सनापूर्ण वचनों को सुनकर
कुमुदचन्द्र जी बहुत पछताये और लज्जित हुए। अपने
अप कृत्य से घबराकर उन्होंने गुरुदेव से पूछा—

---

१ कुछ उल्लेखों के अनुसार उन्हें संघ से निष्कासित ही कर दिया।

"गुरुदेव ! मूर्खतावश मैंने दुस्सह कर्म का अर्जन किया। इसलिए कृपाकर मुझे इसका प्रायश्चित्त बताइए।"

गुरुदेव वृद्धवादि ने सूरीश्वर जी को प्रायश्चित्त बताते हुए कहा—

"प्रियवर ! बालक, स्त्री; मूर्ख आदि के कल्याण का विचार करके गौतमादि गणधरों ने प्राकृत में सूत्र रचना की, इसकी निन्दाजन्यपाप से मुक्ति के लिए तुम्हें बहुत बड़ा प्रायश्चित्त करना पड़ेगा।

"वत्स ! बारह वर्ष तक अवधूत वेश में गुप्त रहकर तुम घोर तप करो और तप की अवधि समाप्त करके किसी राजा को प्रतिबोध दो। तभी तुम्हारे इस जिनवाणी की अवज्ञा रूप महा पाप का प्रायश्चित्त होगा।"

श्री सिद्धसेन सूरि ने श्रद्धाभाव से गुरु प्रदत्त प्रायश्चित्त को ग्रहण किया और अवधूत वेश में स्थान-स्थान पर भ्रमण करते हुए गुप्त तप करने लगे।

बारह वर्ष तक गुप्त तप करने के बाद सिद्धसेन सूरि अवधूत वेश में अवन्ती आये और महाकाल के मन्दिर में महादेव शिव के लिंग की ओर पैर करके लेट गए। उनके इस आचरण से मन्दिर के पुजारियों को बहुत बुरा लगा। उन्होंने सहज रूप से अवधूत वेशी सूरीश्वर जी से कहा—

"हे अवधूत ! आप देव विग्रह की ओर पैर करके सो रहे हैं ? आपका यह आचरण अक्षम्य है। साधु होने के नाते हमारा आप से निवेदन है कि आप यह स्थान छोड़ दीजिए !"

लेकिन अवधूत ने पुजारियों की बात पर कोई ध्यान नहीं दिया और पूर्ववत् शिव लिंग की ओर पैर किये ही लेटे रहे। एक पुजारी राजा विक्रमादित्य के पास गया और समस्त वृत्तान्त उन्हें सुनाया। राजा ने अपने राज सेवकों को आदेश दिया—

"कोई भी साधु, वह अवधूत हो या और कोई, देव प्रतिमा का अनादर नहीं कर सकता। निश्चय ही यह कोई धूर्त व पाखण्डी होगा। अतः इस धूर्त की कोड़ों से पिटाई करो।"

राजसेवक महाकाल के मन्दिर में गये और अवधूत वेशी सूरीश्वर को कोड़ों से पीटने लगे। उसी समय एक चमत्कार यह हुआ कि जो कोड़े अवधूत को लगते थे, उनकी पीड़ा राजा विक्रमादित्य की रानियों को होती थी। तुरन्त ही अन्तःपुर की दासियाँ राजा के पास आईं और बोलीं—

"महाराज ! अदृश्य रूप से कोई व्यक्ति रानियों को कोड़ों से पीट रहा है····।"

दासी की बात पूरी सुने बिना ही दूरदर्शी राजा इसका

रहस्य समझ गए। वे तुरन्त महाकाल के मन्दिर में
और अवधूत की पिटाई बन्द कराई। राजा ने विच
किया—'अवधूत के वेश में यह कोई सिद्ध योगी हैं। अ
इस चमत्कार-प्रदर्शन से अवश्य ही ये मुझे कुछ नया ज्ञ
देना चाहते हैं।'

यह सब विचारकर राजा ने भक्ति-भाव से अवधूत
प्रणाम किया और बोले—

"महात्मन् ! आज आपने यह अनहोनी वात क्यों
है ? देव प्रतिमा का अनादर तो सामान्य पुरुष भी न
करते। इस पर आप तो साधु हैं। भगवान शंकर की भ
से सभी भौतिक सुख और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति हो
है। अतः आप सदा शिव की स्तुति करें।"

अवधूत ने कहा—

"राजन् ! यह तुम्हारा कोरा भ्रम है। कोई देव
या महादेव—मोक्ष-प्रदाता नहीं है। देव विकारों से पू
होते हैं। प्रेम, घृणा, इच्छा, क्रोध आदि देवों में भी हो
हैं। इसलिए देव भौतिक सुख तो दे सकते हैं और वह
भाग्य के आधार पर। लेकिन मोक्ष तो अपने द्वारा कि
गये परम पुरुषार्थ से ही प्राप्त होता है।"

राजा ने शंकित होकर पूछा—

"भगवन् ! मैं तो जिज्ञासु हूँ। अव तक यही सुनत

आया हूँ कि शिव की भक्ति से मोक्ष मिलता है। कृपया, इस तथ्य को सप्रमाण समझाइये।"

राजा का यह कथन सुनते ही अवधूत ने वीतरागी जिनेश्वर की स्तुति का पाठ प्रारम्भ किया।[1] धीरे-धीरे शिवलिंग से धुआँ-सा उठने लगा और लिंगविदीर्ण हुआ तथा उसमें से भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई। इस चमत्कार को देखकर सब दर्शक दंग रह गए। सूरीश्वर जी ने राजा से कहा—

"राजन् ! वीतरागी परमात्मा कोई भी हो—वह शिव हो या पार्श्वनाथ, मेरे लिए समान रूप से वन्दनीय है। शिव विग्रह में से पार्श्वनाथ प्रतिमा का प्रकट होना, यह सिद्ध करता है कि वीतराग प्रभु ही वास्तव में शिव शंकर (कल्याणकारी) है।"

"राजन् ! इन सबके बावजूद भी मूर्ति पूजा से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती यह तो एक निमित्त मात्र है। वास्तव में तो अपने किये हुए शुभ कर्मों से ही स्वर्ग और मोक्ष मिलता है।"

"राजन् ! अब मैं तुम्हें यह बताऊँगा कि अवन्ती के महाकाल मन्दिर से भगवान पार्श्वनाथ का क्या सम्बन्ध

---

१ कल्याण मन्दिर स्तोत्र के रूप में पार्श्वनाथ भगवान की स्तुति की।

रहा है और एक सामान्य पुरुष से केवल अपने कर्म के सहारे ही पार्श्वनाथ को परमात्म पद प्राप्त कैसे हुआ।

"राजन् ! किस व्रत के करने से क्या फल प्राप्त होता है, इस सम्बन्ध में भी मैं तुम्हें अनेक दृष्टान्त सुनाऊँगा इन कहानियों को सुनने के बाद तुम्हारे सब भ्रम और सन्देह दूर हो जायेंगे।"

राजा विक्रमादित्य ने पूछा—

"भगवन् ! मेरे पुण्यों का उदय ही है कि आप मेरा अज्ञान मिटाने यहाँ पधारे हैं। मैं आपका परिचय जानने को बहुत उत्सुक हूँ।"

मुस्कराते हुए अवधूत वेशी सिद्धसेन सूरि ने कहा—

"राजन् ! तुम्हें याद होगा, एक बार मैंने द्वारपाल को एक श्लोक[1] लिखकर तुम्हारे पास भेजा था। मेरे श्लोक के उत्तर में तुमने भी मुझे एक श्लोक भेजा था। उसके बाद मैंने तुम्हारी राजसभा में आकर पाँच श्लोक और भी सुनाये थे। उनकी काव्यात्मकता से प्रभावित होकर तुमने मुझे अपना सम्पूर्ण राज्य देना चाहा था। मैं वही सिद्धसेन सूरि गुरुवर वृद्धवादि का शिष्य हूँ। अपने एक अपराध का प्रायश्चित्त करते हुए मैं बारह वर्ष तक

---

१ भिक्षुर्दिदृक्षुरायातस्तिष्ठति द्वारि वारितः।
हस्तन्यस्तचतुः श्लोकः किं वाऽऽगच्छतु गच्छतु ॥

[अ]वधूत वेश में इधर-उधर घूमता रहा और अब तुम्हें [प्र]तिबुद्ध करने यहाँ आया हूँ।"

महापण्डित और महाज्ञानी सिद्धसेन सूरि का परिचय [पा]कर राजा विक्रमादित्य बहुत प्रसन्न हुए। महाकाल [म]न्दिर के प्रांगण में सूरीश्वरजी का धर्म समारोह जुड़ा [औ]र वे राजा के समक्ष ज्ञान से पूर्ण तथा प्रतिबोधक [क]थाएँ सुनाने लगे। राजा-प्रजा, पुजारी—सभी श्रद्धा [भ]क्ति से गुरु वाणी का श्रवण करने लगे।

३

अवन्ती का अतीत

[अवन्ती के नामधर्ता और महाकाल मन्दिर के अधिष्ठाता—भद्रासुत अवन्ती सुकुमाल]

अवधूत वेशी सिद्धसेन सूरि ने महाराज विक्रमादित्य से कहा—

"राजन् ! उज्जयिनी का एक नाम अवन्ती भी प्रसिद्ध है। अवन्ती के नामधर्ता अवन्ती सुकुमाल की भी एक रोमांचक कहानी है। इस कहानी का सम्वन्ध इस महाकाल मन्दिर की स्थापना से भी है। यह महाकाल मन्दिर पहले पार्श्वनाथ का मन्दिर था। बाद में ब्राह्मणों ने इसे महाकाल शिव का रूप दिया।

"राजन् ! मैं तुम्हें अवन्ती सुकुमाल की रोमांचकारी कथा सुनाता हूँ। ध्यान देकर सुनो।"

महाराज गन्धर्वसेन के शासनकाल से वर्षों पहले उज्जयिनी में भद्रा नाम की एक समृद्धिशालिनी और श्रमणोपसिका सेठानी रहती थी। भद्रा के एकमात्र पुत्र का नाम था, अवन्ती सुकुमाल। भद्रासुत अवन्ती सुकुमाल

अत्यन्त सुन्दर और कुसुम से कोमल गात वाला था। जब वह भवन के सातवें खण्ड में जाता था तो दासियाँ उसके पथ में फूल बिछाकर भी झिझकती थीं—कहीं फूलों की पंखुड़ियों से कुमार के पैरों में खरोंच न पड़ जायें। ऐसा सुकुमार था, अवन्ती सुकुमाल।

भद्रा ने बत्तीस श्रेष्ठि कन्याओं के साथ अवन्ती सुकुमाल का विवाह किया था। भद्रा का समस्त वैभव और सम्पत्ति इकलौते पुत्र अवन्ती सुकुमाल के लिए थी। जीवन की सभी सुविधाएँ उसे सहज में ही प्राप्त थीं।

× × ×

तपोमूर्ति आचार्य महागिरि के परलोकवास के पश्चात भगवान महावीर के दसवें पट्टधर आचार्य सुहस्ति की भारत में दूर-दूर तक कीर्ति व्याप्त थी। मुमुक्ष-साधकों के लिए वे पतवार थे। सैकड़ों साधु उनके पथ-प्रदर्शन में चारित्र-साधना कर रहे थे। अपने साधु-समुदाय के साथ स्थान-स्थान पर विहार करते हुए आचार्य सुहस्ति जनता जनार्दन को भी सुपथ दिखा रहे थे।

एक बार आचार्य सुहस्ति अपने शिष्य-समूह सहित उज्जयिनी पधारे। उज्जयिनी के निकट एक उद्यान में रुककर आचार्य श्री ने दो शिष्य-मुनियों को उपयुक्त स्थान की खोज में नगरी में भेजा। उज्जयिनी में घूमते हुए मुनि युगल सेठानी भद्रा के आवास के निकट पहुँचे। श्रमणोपासिका भद्रा की दृष्टि भी उन साधुओं पर पड़ी। भक्ति-

भाव से वन्दन नमस्कार कर भद्रा ने उन्हें आहार देना चाहा। साधुओं ने बताया—

"कल्याणी! इस समय हम गोचरी के लिए नहीं आये। गुरुजी के बताये हुए एक और काम से आये हैं।"

हर्षपूर्ण उत्सुकता से भद्रा ने पूछा—

"मुने! जो भी काम हो मुझे बताइये। मुनि सेवा करके मेरा जीवन धन्य हो जायेगा।"

साधुओं ने कहा—

"शुभे! साधु-समुदाय सहित गुरुवर के ठहरने के लिए निरापद स्थान चाहिए।"

भद्रा बहुत प्रसन्न हुई। साधुओं से बोली—

"मुने! मेरा विशाल अतिथि गृह अभी खाली पड़ा है। चारों ओर सुन्दर अलग-अलग प्रकोष्ठ भी बने हैं आप आचार्य श्री को लेकर पधारें। मैं अभी स्थान की सफाई कराती हूँ। मेरा अहोभाग्य है कि इतने सन्तों के चरण मेरे घर में पड़ेंगे।"

यथासमय आचार्य सुहस्ति साधु-परिवार सहित सेठानी भद्रा के विशाल अतिथि गृह में ठहर गए। साधु लोग अपने श्रमणाचार की साधना में लग गये।

× × ×

अवन्ती सुकुमाल सातवें खण्ड में अपनी बत्तीस पत्नियों के साथ सोया हुआ था। अचानक ही वह उठकर बैठा

हो गया। उसके कानों में नलिनीगुल्म विमान के अलभ्य सुखों का वर्णन पड़ा। शय्या पर बैठकर श्रेष्ठिपुत्र कान लगाकर सुनने लगा। उसे ऐसा लगा—इस नलिनीगुल्म पाठ में वर्णित सुखों को मैंने भोगा है। सब कुछ जाना-पहचाना लग रहा है। आचार्य सुहस्ति नीचे बैठे नलिनीगुल्म का पाठ जोर-जोर से सस्वर पढ़ रहे थे और भवन के सातवें खण्ड में शय्या पर बैठा अवन्ती सुकुमाल सुन रहा था। अवन्ती सुकुमाल को यह पाठ इतना भाया कि वह फौरन नीचे आया और आचार्य सुहस्ति के पास बैठकर दत्तचित्त होकर नलिनीगुल्म पाठ सुनने लगा।

पाठ सुनते-सुनते अवन्ती सुकुमाल को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। उसे सब कुछ याद आ गया। पूर्वभव में वह नलिनीगुल्म विमान में उत्पन्न देव था। देवलोक से च्युत होकर ही वह भद्रासुत अवन्ती सुकुमाल बना है। भद्रासुत की इच्छा हुई कि मैं अब पुनः नलिनीगुल्म विमान में देव बनूँ। इस प्रकार अपने पूर्व भव पर विचार करते-करते अवन्ती सुकुमाल ने आचार्य सुहस्ति से कहा—

"भगवन्! नलिनीगुल्म पाठ में वर्णित सभी सुखों को मैं भोग चुका हूँ। आपका पाठ सुनकर मुझे जाति स्मरण ज्ञान हुआ है। प्रभो! मैं अब फिर नलिनीगुल्म विमान में जाना चाहता हूँ। मेरा पथ-प्रदर्शन कीजिए।"

आचार्य श्री ने कहा—

"वत्स ! नलिनीगुल्म विमान में पहुँचने के लिए तुम्हें संयम ग्रहण करना पड़ेगा और तुम संयम का पालन नहीं कर पाओगे। इसलिए इस दिवास्वप्न को भूलना ही होगा।"

श्रेष्ठि पुत्र ने कहा—

"भगवन् ! यह मेरा दिवास्वप्न नहीं है, वल्कि अव तो जीवन का लक्ष्य वन गया है। आप मुझे प्रव्रजित कीजिए। मैं संयम का पालन करूँगा। फूल तक पहुँचने के लिए उँगलियों को काँटों की चुभन सहनी ही होती है।"

आचार्य ने पुनः समझाया—

"वत्स ! तुम अत्यन्त सुकुमार हो। संयम की आराधना हँसी-खेल नहीं है, अंगारों पर चलने से भी अधिक दुस्तर है। संयम-साधना रेत का रूखा कोर है, तप-आराधना तलवार की तीखी धार। तुम्हारा गात कुसुम-सा कोमल है। शीत-आतप, भूख-प्यास के परीषहों को तुम नहीं सह पाओगे।"

अवन्ती सुकुमाल ने पूरी दृढ़ता से कहा—

"प्रभो ! मेरा निश्चय अडिग है। शरीर से कोमल हूँ, पर शरीर मन का अनुगामी है। संयम का पालन मन की दृढ़ता से होता है, शरीर की कठोरता से नहीं। देवकी-नन्दन गजसुकुमाल क्या मेरी ही तरह कोमल गात नहीं था ?

"प्रभो ! मुझे प्रव्रजित कीजिए।"

आचार्य सुहस्ति निरुत्तर हो गये। भद्रासुत की दृढ़ता से वे प्रभावित हुए और बोले—

"वत्स ! दीक्षा आचार के अनुसार तुम्हें अपने परिजनों से संयम की अनुमति लेनी होगी। जाओ, अपनी माता भद्रा और बत्तीसों पत्नियों से प्रवज्या की अनुज्ञा ले आओ।"

"आर्य वचन प्रभो !" कहकर अवन्ती सुकुमाल अपनी माता भद्रा और पत्नियों के पास पहुँचा, पर किसी ने उसे दीक्षा की आज्ञा नहीं दी। अवन्ती सुकुमाल ने बहुत समझाया, पर किसी पर प्रभाव नहीं पड़ा। अन्त में लाचार होकर अवन्ती सुकुमाल ने स्वयं ही केश लुंचन किया और श्रमण का श्वेत परिधान धारणकर आचार्य सुहस्ति के पास आया और बोला—

"प्रभो ! मुझे श्रामणी दीक्षा दीजिए। मैं नलिनीगुल्म विमान प्राप्त करके ही रहूँगा।"

आचार्य ने उसे भागवती दीक्षा दी और आशीष दिया—

"बेटा ! तू दृढ़मति है। मेरा आशीष है कि तू अपने उद्देश्य में सफल हो।"

प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात मुनि अवन्ती सुकुमाल ने कहा—

"प्रभो ! मैं लम्बे समय तक श्रमणाचार का पालन नहीं कर पाऊँगा। अतः अनशनपूर्वक ध्यान करने की अनुमति दीजिए।"

आचार्य ने उसे आमरण अनशन-ध्यान की अनुमति दी। गुरु से आज्ञा प्राप्त कर अणगार अवन्ती सुकुमाल उज्जयिनी से वाहर कंटकाकीर्ण वन की ओर चल दिये उनके कोमल चरण वन के कँटीले और कँकरीले पथ का आघात नहीं सह पाये। तलवों से खून निकलने लगा। लेकिन इसकी परवाह किये बिना वे वन की ओर वढ़ते चले गये। उनके पैरों से रक्त टपकता जाता था और वे आगे वढ़ते जाते थे।

वन में पहुँचकर मुनि अवन्ती सुकुमाल एक वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग में ध्यानस्थ हो गए। उक्त कँटीले वन में एक शृगाली अपने शावकों सहित घूम रही थी। उसने पथ में खून के छींटे पड़े देखे। रुधिर-लोभी शृगाली धूलि मिले रक्त को चाटते-चाटते ध्यानस्थ मुनि के समीप पहुँच गई। उसके वच्चों ने भी उसका अनुकरण किया। मुनि के पास पहुँच कर शृगाली रक्त से भीगे मुनि के पैरों को चाटने लगी और फिर उसने मुनि की पिंडलियों में दाँत गड़ा दिये। उसके वच्चे भी मुनि की पिंडलियों को खाने लगे। पैरों के अलग होते ही मुनि धड़ाम से धरती पर गिर पड़े और शृंगाली तथा उसके वच्चे मुनि पर टूट पड़े और नोंच-नोंच कर उनका मांस खाने लगे।

ध्यानस्थ मुनि अवन्ती सुकुमाल किंचित् भी विचलित नहीं हुए। वे शृगाली को धन्यवाद दे रहे थे, क्योंकि शृगाली उनकी साधना में सहायक हो रही थी। ज्यों-ज्यों शृगाली उनका मांस खाती जाती थी, त्यों-त्यों मुनि और ऊँचे ध्यान सोपान पर चढ़ते जाते थे। जिसके हृदय में समता का सागर लहराता है; बाहरी परीषह उसकी साधना को और अधिक ऊँचा उठाते हैं।

धीरे-धीरे शुभ ध्यान में मुनि ने अपने प्राण त्याग दिये और नलिनीगुल्म विमान में देव बने। दूसरे दिन प्रातः यह समाचार उज्जयिनी में फैल गया। सेठानी भद्रा और उसकी बत्तीस पुत्रवधुएँ श्मशान पहुँचीं और मुनि अवन्ती सुकुमाल के क्षत-विक्षत शरीर को देखकर रोने लगीं। आचार्य सुकुमाल ने सबको धीरज बँधाया और कहा—

"इस नश्वर शरीर के लिए क्यों शोक करती हो? तुम्हारे पुत्र अवन्ती सुकुमाल की अजर-अमर आत्मा नलिनीगुल्म विमान में देवभव को प्राप्त हुई है। उत्कट साधना का धनी अवन्ती सुकुमाल अपने जन्म को सार्थक कर गया। ऐसे अनुपम पुत्र को पाकर तुम्हें खुशी से झूमना चाहिए।"

आचार्य के उपदेशों से सबको शान्ति मिली। उसी समय सेठानी भद्रा और उसकी इकत्तीस पुत्रवधुओं ने संसार के सुखों को लात मारकर आचार्य सुहस्ति से दीक्षा

अंगीकार कर ली। अवन्ती सुकुमाल की बत्तीसवीं पत्नी गर्भवती थी, इसलिए उसने संयम ग्रहण नहीं किया। वह संसारी जीवन को नहीं त्याग पाई।

अन्त में सिद्धसेन सूरि ने महाराज विक्रमादित्य से कहा—

"राजन् ! समय पाकर अवन्ती सुकुमाल की गर्भवती पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। बड़ा होकर उस पुत्र को अपने पिता के शुभमरण का हाल मालूम हुआ जिस स्थान पर मुनि अवन्ती सुकुमाल ने अपने प्राण त्यागे थे, उसी स्थान पर उसके पुत्र ने एक स्मृति आवास बनवाया और वही स्मृति आवास 'महाकाल प्रासाद' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जिस आवास में बैठे हुए तुम यह कथा सुन रहे हो, यह वही 'महाकाल मन्दिर' है। मुनि अवन्ती सुकुमाल की उत्कट साधना के कारण तत्कालीन शासक ने उज्जयिनी का नाम अवन्ती रखा। इसलिए उज्जयिनी अवन्ती के नाम से प्रसिद्ध है।"

"राजन् ! जिस शृगाली ने मुनि अवन्ती सुकुमाल का मांस खाया था, कहते हैं कि वह किसी जन्म में उनकी पत्नी थी। पूर्वजन्म के वैर-विपाक के कारण ही उसने अणगार मुनि का मांस खाया। कर्मों का चक्र संसार में इसी तरह चलता है। ये संसारी नाते और कुछ नहीं कर्म प्रभावित जन्म-जन्म के फेरे हैं।"

४

अभयदान की महिमा

[राजा शंख और रानी रूपवती]

अवन्ती सुकुमाल की वैराग्य जनक कहानी सुनाने के पश्चात् अवधूतवेशी सिद्धसेन ने कहा—"राजन् ! अब मैं तुम्हें अहिंसा आदि व्रतों के आचरण का शुभ फल जताने वाले कुछ दृष्टान्त सुनाता हूँ। राजा विक्रम एवं समस्त सभा मन्त्र मुग्ध सी बैठ गई और सूरीश्वरजी ने कथा प्रारम्भ की।"

बहुत समय पहले की बात है। शंखपुर नामक नगर में शंख नाम का प्रजावत्सल राजा राज्य करता था। रूप गुण और शील-आचार से पूर्ण राजा शंख के सात रानियाँ थीं। इन सातों में रूपवती नाम की रानी राजा शंख की पटरानी थी।

एक बार एक चोर ने राजा के महल में चोरी की और मणि-रत्नों से भरी पेटी लेकर चल दिया। लेकिन महल से निकलते समय पहरेदारों ने उसे पकड़ लिया और गाढ़ बन्धनों में बाँधकर बन्दीगृह में डाल दिया। प्रातःकाल

जब दरबार जुड़ा तो उस चोर को राजा के समक्ष ल
गया । राजा ने पहले तो उस चोर की कोड़ों से पि
करवाई और फिर वध का आदेश दिया ।

राजा की आज्ञा से राजसेवक चोर को वधस्थल
ओर ले जाने लगे । मृत्यु भय से चोर के चेहरे की ह
उड़ी हुई थीं । उसे दिन में तारे दीख रहे थे । महल
झरोखे से पटरानी रूपवती ने चोर को वधस्थल की
जाते हुए देखा । चोर को भयभीत देख पटरानी का ह
करुणा से भर गया । उसने राजसेवकों को रोका और रा
से प्रार्थना की—

“स्वामी ! कुछ दिन के लिए इस चोर को मेरी दे
रेख में रहने दीजिए । फिर आप इसे मृत्यु दण्ड देना ।”

राजा शंख ने पट्टमहिषी रूपवती की प्रार्थना पर
उसे सौंप दिया । चोर को लेकर पटरानी अपने महलों
गई और उसे अतिथि भवन में ठहराया । स्नान आ
कराके उसे स्वच्छ-धुले वस्त्र पहनाये और स्वादिष्ट त
पौष्टिक भोजन कराया । इसी क्रम से अन्य छहों रानि
ने भी चोर को सत्कारपूर्वक पौष्टिक भोजन कराया । कु
दिन के अनन्तर चोर बहुत ही दुर्बल हो गया । आशा
विपरीत इस परिवर्तन को देखकर पटरानी रूपवती ने चो
से पूछा—

“हे चोर ! हमने तुम्हारी हर तरह से आवभगत की

ादिष्ट और पौष्टिक भोजन दिया। फिर भी तुम दिन-
ादिन क्षीण और दुर्बल क्यों होते जा रहे हो ?"

पटरानी के प्रश्न का उत्तर देते हुए चोर ने कहा—
"महारानी जी ! जिसके सामने मृत्यु नाच रही हो,
ा फिर कौन स्वस्थ कर सकता है ? किसी-न-किसी दिन
ज्ञाज्ञा से राजसेवक मेरा वध करेंगे। इसी भय और
शंका से खाया-पिया मेरे अंग नहीं लगता और मैं सूखता
रहा हूँ।"

चोर की दीनताभरी वाणी सुनकर पटरानी रूपवती
ीभूत हो उठी। जिसका चित्त सभी प्राणियों पर दया
द्रवित होता है, उसको ज्ञान और मोक्ष मिलता है।
ा, भस्म और गेरुए वस्त्र धारण करना सर्वथा व्यर्थ
। दया से रहित जटा, भस्म धारण करने वाले गैरिक
न्यासी को कभी भी मोक्ष नहीं मिल सकता।[१]

यादवेन्द्र श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा कि हे कौन्तेय !
ए पर्वत के समान स्वर्ण का दान करने से अथवा सम्पूर्ण
ृथ्वी का दान करने का माहात्म्य एक प्राणी को जीवन
न देने से बढ़कर नहीं है।[२] स्वर्ण, गाय, पृथ्वी आदि का

यस्य चित्तं द्रवीभूतं कृपया सर्वजंतुषु।
तस्य ज्ञानं च मोक्षश्च किं जटा भस्मचीवरैः॥

यो दद्यात् कांचनं मेरुं कृत्स्नां चैव वसुन्धराम्।
एकस्य जीवितं दद्यान्न च तुल्यं युधिष्ठिर !॥

दान करने वाले तो अनेक हैं, पर अभयदान देने वाले विरले ही हैं।[1]

इस प्रकार विचार करते हुए पटरानी रूपवती ने को अभयदान देने का निश्चय करते हुए उससे कहा—

"चोर ! यह तो तुमने प्रत्यक्ष देख लिया कि करने से इस लोक में वध, वन्धन आदि का कष्ट भो पड़ता है। इसके अलावा यह भी निश्चय जान लो चोरी करने वाले को परलोक में नरक यातना भी भो पड़ती है। पूर्व जन्म में जो मनुष्य चोर होता है, उसे दारिद्र्य, भाग्यहीनता, अंगछेदन आदि के कष्ट भो पड़ते हैं। इसलिए यदि तुम लोक-परलोक—दोनों विगाड़ने वाले इस चौर्य कर्म को त्याग दो तो मैं अभयदान देती हूँ।"

चोर ने तत्काल प्रण किया—

"महारानीजी ! आज से मैं सदा अस्तेय व्रत का करूँगा और तृणमात्र की भी चोरी नहीं करूँगा।"

चोर के इस संकल्प से पटरानी रूपवती वहुत प्र हुई और उसने राजा से सिफारिश की—

1 हेमधेनुधरादीनां दातारः सुलभा भुवि।
दुर्लभः पुरुषो लोके यः प्राणिष्वभयप्रदः॥

"स्वामी ! आज से यह चोर चोर नहीं रहा। इसे
...नदान दीजिए।"

रानी के कहने से राजा ने चोर को अभय कर दिया।
...सरे व्रत—अस्तेय के सतत पालन से चोर ने मरकर देव
... प्राप्त किया और स्वर्ग-सुखों का भोग करने लगा।
...धिज्ञान के प्रयोग द्वारा चोर की आत्मा वाले देव को
...ने पूर्व जन्म का स्मरण हुआ तो उसने अपने उपकारी
...जा शंख और रानी रूपवती का प्रत्युपकार करना
...हा। इस विचार के वाद वह मर्त्यलोक में आया और
...नी रूपवती तथा राजा शंख को प्रणाम कर पूर्व जन्म का
... वृत्तान्त सुनाते हुए कहा—

"आपके उपकार से ही मैंने देव भव प्राप्त किया है।
...वल अस्तेय व्रत के पालन से ही मैं देव बना हूँ।"

इसके वाद उस देव ने करोड़ों के मूल्य वाले दो कुण्डल
...था एक हार पटरानी रूपवती को दिये तथा दो-दो कुण्डल
...न्य छहों रानियों को भी दिये। साथ ही, एक दिव्य
...हासन राजा शंख को दिया।

व्रतों के पालन का ऐसा सुफल प्राप्त होता है, यह
...नकर राजा की रुचि दानादि धर्म कृत्यों में और भी
...धिक दृढ़ हो गई और परिणामस्वरूप मरने के वाद सातों
...नी और राज शंख को स्वर्ग प्राप्त हुआ। अव स्वर्ग-सुख

भोगने के वाद राजा शंख सातों रानियों सहित पुनः मनु
जन्म धारण करेगा और फिर महाव्रतों का पालन क
सातों रानियों सहित मोक्ष प्राप्त करेगा ।

सिद्धसेन सूरि ने राजा विक्रमादित्य से कहा—

"राजन् ! विना किसी देव की उपासना से ही
कर्मों के द्वारा ही स्वर्ग और मोक्ष मिलता है, इसमें
मत नहीं, यह सव इस कहानी से स्पष्ट हो गया होगा
अव मैं तुम्हें दूसरी कहानी भी सुनाता हूँ ।"

५

रानी हेमवती का शील-धर्म

लक्ष्मीपुर नामक नगर में राजा धीर न्याय-नीति से [प्र]जापालन करता था। राजा धीर की रानी हेमवती [अ]त्यन्त रूपवती और पतिव्रता नारी थी। राजा-रानी [द]ोनों ही *श्रमणोपासक और सम्यक्त्वी थे।*

एक बार राजा धीर अपनी प्रिया हेमवती के साथ [व]नभ्रमण कर रहे थे कि उसी समय एक विद्याधर वहाँ [आ]या और अदृश्य रूप से रानी हेमवती को विमान में [ब]ठाकर ले गया। रानी हेमवती को लेकर विद्याधर [वै]ताढ्य पर्वत पर बसे अपने नगर में गया और अपने महल [म]ें पहुँचकर रानी हेमवती से इस प्रकार बोला—

"रानी हेमवती ! तुम्हारा परम सौभाग्य है कि मैं [तु]म्हें अपनी हृदयेश्वरी बनाना चाहता हूँ। इस वैताढ्य [प]र्वत पर सात नगर बसे हैं। इन नगरों में अनेक विद्याओं [क]ो धारण करने वाले विद्याधर रहते हैं। मैं इन सबका [र]ाजा हूँ। मेरा वैभव देवराज इन्द्र के समान है। प्रज्ञप्ति

आदि विद्या देवियाँ मुझे मनोवांछित सुख देती हैं। इसलि तुम मेरी अंकशायिनी वनो।"

विद्याधर की वातें सुनकर पतिपरायण रानी हेमवत नें कहा—

"मूर्ख विद्याधर ! पतिव्रता स्त्री, भले ही वह लकड़हा की पत्नी हो, किसी पर-पुरुष की ओर आँख उठाकर भ नहीं देखती। मेरा वैभव मेरे स्वामी के चरणों में है तेरी भलाई इसी में है कि तू इस बुरे विचार को त्याग दे पर-स्त्री गमन से आज तक कोई भी सुखी नहीं हुआ पर-स्त्री की इच्छा मात्र से रावण का वैभव मिट्टी में मिल गया और वह मृत्यु को प्राप्त हुआ।"

हेमवती के समझाने पर भी कामान्ध विद्याधर प कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अतः विवश हेमवती ने अपने गले में फाँसी का फन्दा लगा लिया। लेकिन उसके शील प्रभा ने फाँसी का फन्दा पुष्पहार वन गया। शील-व्रत के इ प्रत्यक्ष प्रभाव को देखकर भी विद्याधर की मति नहं वदली। तव चक्रेश्वरी देवी वहाँ प्रकट हुई और विद्याध को फटकारते हुए वोली—

"पापिष्ठ विद्याधर ! अगर तू अपना भला चाह है तो इस सती नारी से क्षमा माँग और वहन मानक इसकी सेवा कर, अन्यथा तू इसकी कोपाग्नि में जलक भस्म हो जायेगा।"

चक्रेश्वरी देवी की चेतावनी सुनकर विद्याधर थर-थर काँपने लगा और हेमवती के चरणों में गिरकर उससे क्षमा माँगी। सरल हृदया हेमवती ने उसे क्षमा कर दिया। इसके वाद विद्याधर धर्म वहन रानी हेमवती को लेकर लक्ष्मीपुर पहुँचा और रानी हेमवती राजा धीर को सौंप दी।

वाद में दीक्षा लेकर हेमवती साध्वी वन गई और अखण्ड ब्रह्मचर्य तथा महाव्रतों का पालन करके सद्गति पाई।

सूरीश्वर जी ने राजा विक्रमादित्य से कहा—

"राजन्! शील और ब्रह्मचर्य के पालन से सद्गति मिलती है, इसमें सन्देह नहीं। परदार-संतोषी और पति-व्रता श्रावक-श्राविकाएँ सद्गति को प्राप्त होती हैं। अब मैं तुम्हें तप का प्रभाव वताने वाली एक कहानी सुनाता हूँ।"

□

६

राजकुमार तेजपुंज

चन्द्रपुर नामक नगर में राजा चन्द्रसेन राज्य करत था। राजा चन्द्रसेन की रानी चन्द्रावती परम पतिव्रता व धर्मनिष्ठा थी। राजपुत्र तेजपुंज अत्यन्त विनयी, मधुर भाषी, माता-पिता का आज्ञानुवर्ती और सम्पूर्ण विद्याअं में अग्रणी था। जव तेजपुंज युवा हुआ तो राजा चन्द्रसेन ने जितशत्रु की कन्या रूपवती के साथ उसका विवाह कर दिया। कुछ काल बाद राजा चन्द्रसेन ने शासनभार राज कुमार तेजपुंज को सौंपा और रानी चन्द्रावती सहित दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के अनन्तर घोर तप द्वारा राजा-रानी ने स्वर्ग प्राप्त किया।

राजा तेजपुंज न्याय-नीति से प्रजा का पालन करने लगे। उनका वैभव देवोपम था। पूर्व जन्म में जो प्राणी पुण्य करता है, उसी को वैभव प्राप्त होता है। राजा तेजपुंज के पास एक सहस्र हाथी, पाँच लाख घोड़े, उतने ही रथ और रथ को खींचने वाले घोड़े, करोड़ों का स्वर्ण,

करोड़ों की संख्या वाली चतुरंगिणी सेना और अपार लक्ष्मी थी। यह सब पूर्व उपार्जित पुण्यों का ही प्रभाव था।

एक दिन चन्द्रपुर नगर के बाहर राजोद्यान में आचार्य धर्मघोष पधारे। राजा-प्रजा सभी उनका उपदेश सुनने गए। आचार्य जी ने श्रोताओं को संसार की असारता और धर्म की नित्यता पर सारगर्भित उपदेश देते हुए अन्त में कहा—

"भव्य जीवो! मनुष्य जन्म बड़े भाग्य से मिलता है। मनुष्य ज़न्म मिलने पर भी स्वस्थ शरीर अच्छा कुल तो और भी दुर्लभ है। मनुष्य भव पाकर जिसने धर्म का पालन नहीं किया, उसका जीवन व्यर्थ ही समझो।"

"प्राणियो! करोड़ों जन्म में भी दुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्त करके इस संसार रूपी सागर में धर्मरूपी नौका पर चढ़कर [भवसागर पार करने के लिए] सदैव तैयार रहना चाहिए।"[1]

गुरु का उपदेश सुनने के अनन्तर राजा तेजपुंज ने आचार्य जी से पूछा—

"भगवन्! पूर्व जन्म में मैंने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है, जिसके कारण मुझे यह वैभव और राज्य सुख प्राप्त हुआ है?"

---

१ भवकोटि दुःप्राप्यमवाप्य नृभवादिसकलसामग्रीम्।
भवजलधियानपात्रे धर्मे यत्नः सदा कार्यः॥

राजा तेजपुंज का प्रश्न सुनकर आचार्य धर्मघोष ने कहा—

"राजन् ! मैं तुम्हें तुम्हारे पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुनाता हूँ। पूर्व भव में तुमने जो तप किया था, उसी के कारण तुम्हें देवोपम ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है, क्योंकि तप सकल लक्ष्मी का विना श्रृंखला का नियन्त्रण है। पाप, प्रेत और भूतों को हटाने में वह सदैव विना अक्षर का मन्त्र है।"[1]

राजा तेजपुंज का पूर्वभव—श्रीपुर नामक नगर में कमल नाम का एक अत्यन्त निर्धन वैश्य रहता था। वैश्य कमल की पत्नी का नाम कमला था। निर्धन वैश्य कमल के तीन पुत्रियाँ थीं। वह अपने परिवार का उदर-पोषण भी बहुत मुश्किल से कर पाता था। इसके अलावा कन्याओं के विवाह की चिन्ता से वह बहुत दुःखी रहता था। कन्याओं के विवाह की चिन्ता के कारण वैश्य कमल किसी धनी के यहाँ सेवा करने लगा। अनुभवी लोगों ने कहा है कि जैसे मनुष्य लक्ष्मी के प्रभाव से चतुरता और यौवन के प्रभाव से विलास सीखता है, उसी प्रकार दरिद्रता से दासत्व सीखता है।

---

१ तपः सकललक्ष्मीणां नियंत्रणमश्रृंखलम्।
दुरितप्रेतभूतानां रक्षामंत्रो निरक्षरः॥

वैश्य कमल का जीवन वहुत दुःखी था, क्योंकि कुत्सित राजा की सेवा, निन्दित भोजन, निरन्तर क्रुद्ध रहने वाली स्त्री, कन्या की अधिकता और दरिद्रता—ये छह चीजें इस संसार में नरक के समान दुःख देने वाली हैं। इनमें से दूसरे की सेवा, कन्या की अधिकता और दरिद्रता इनका प्रभाव तो कमल पर था ही।

पुण्योदय के फलस्वरूप कमल सेठ को एक दिन एक ज्ञानी मुनि का उपदेश सुनने का सुअवसर मिल गया। मुनि ने लोगों को वताया कि सुपात्र को दान, विशुद्ध शील और नाना प्रकार के धर्म की भावना-धर्म के ये चार रूप संसार सागर को पार करने के लिए सेतु के समान हैं।

गुरु का उपदेश सुनने के अनन्तर जिज्ञासु वणिक् कमल ने गुरु से पूछा—

"भगवन् ! कहावत है कि नंगा क्या तो नहाये और क्या निचोड़े ? अतः जिसके पास धन नहीं है, वह किसका दान दे और कैसे दे ?"

जिज्ञासु कमल का प्रश्न सुनकर गुरुजी ने वताया—

"वत्स ! धन के विना भी तप किया जा सकता है। तप के अनेक प्रकार हैं; जैसे—नवकारसी, पोरसी, एकासन, उपवास, छट्ठ, पंचमी, एकादशी, वीशस्थानक, वर्धमान, आदि। तप करने से दलित कर्म सहज ही नष्ट हो जाते हैं। जो व्यक्ति निश्चयपूर्वक सावधान होकर गंठिसहित

गंठिवन्धन करते हैं, उनकी गाँठ स्वर्ग और मोक्ष से वँध जाती है।"

गुरुवाणी पर दृढ़ विश्वासी वणिक् कमल ने कहा—

"प्रभो ! आज से मैं एकान्तर उपवास करूँगा और गंठिसहित पच्चक्खाण भी करूँगा।"

ऐसा निश्चय करके कमल ने जीवन-भर तप किया और तप के प्रभाव से कमल वणिक् ने शरीर त्याग करके स्वर्ग प्राप्त किया। देवलोक में कमल देव ने मानव दुर्लभ सुखों का भोग किया और कालान्तर में देवायुष्य पूर्णकर पुनः धरती पर तेजपुंज राजा के रूप में मनुष्य शरीर पाया। तेजपुंज राजा को उसका पूर्व भव वताते हुए आचार्य जी ने कहा—

"राजन् ! पूर्व जन्म में तुम्हीं कमल नाम के दरिद्र वणिक् थे। तप के प्रभाव से तुम्हें इस जन्म में देवोपम ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है। तप के प्रभाव से तुम चन्द्रपुर के राजा चन्द्रसेन के पुत्र हुए और उत्तराधिकार में अपार लक्ष्मी के स्वामी वने।"

अपना पूर्व जन्म सुनने के वाद राजा तेजपुंज ने निश्चय किया कि अव मैं पूर्वजन्म की भाँति भावपूर्वक तप करूँगा। ऐसा निश्चय करके राजा तेजपुंज गुरु को वन्दन कर राजमहलों को लौट आया और उसके हृदय में ऐसा धर्म प्रेम उमड़ा कि अपने पुत्र सुन्दर को राज्य देकर मुनि

वन गया। मुनि वनने के अनन्तर राजर्षि तेजपुंज ने घोर तपश्चर्या द्वारा अपने कर्मों का क्षय किया और मोक्षपद का अधिकारी वना।

राजा तेजपुंज की कथा सुनाने के वाद भी सिद्धसेन सूरि ने अवन्तीपति राजा विक्रमादित्य से कहा—

"राजन्! तप का प्रत्यक्ष प्रभाव वताने वाली यह कथा मैंने तुमको सुनाई। इससे स्पष्ट है कि शुद्ध भावना से तप आदि करने से ही भौतिक ऐश्वर्य, स्वर्ग सुख और मोक्ष पद प्राप्त होता है।"

"राजन्! तुम्हें जो यह विपुल ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है, क्या यह महादेव की आराधना से हुआ है? यदि ऐसा ही होता तो वर्षों से महाकाल शिव की पूजा करने वाले पुजारी ऐश्वर्यवान् क्यों नहीं हुए? अतः यह निश्चय जानो कि पूर्व जन्म में तुमने जो पुण्य किये हैं, उसी के कारण तुम्हें यह वैभव और ऐश्वर्य मिला है। पूर्व कृत पुण्यों के वल पर ही तुमने महा पराक्रमी खप्पर चोर को मारा था और पुण्य से ही अग्निवेताल तुम्हारे वश में हुआ।"

राजन्! अव मैं तुम्हें शुद्ध भावना का प्रभाव दिखाने वाली शिव राजा की कथा सुनाता हूँ।

□

७

राजा शिव की कथा

श्रीवर्द्धनपुर नामक नगर में शूर नाम के राजा राज्य करते थे। उनकी रानी पद्मा ने शिव नाम के एक पुत्र रत्न को जन्म दिया। यथासमय राजकुमार शिव युवावस्था को प्राप्त हुआ और समस्त विद्या और कलाओं मे पूर्ण योग्यता प्राप्त की। उसके बाद राजा शूर ने राजकुमार शिव का विवाह श्रीपुर के राजा धीर की श्रीमती नाम की कन्या से कर दिया।

संसार की असारता को देखकर राजा शूर और रानी पद्मा ने दीक्षा ले ली। श्रीवर्द्धनपुर का शासन शिव के हाथों में आया। राजा शिव अपने पिता की तरह न्याय-नीति से प्रजा का पालन करने लगा। रानी श्रीमती पति सेवा द्वारा अपने जीवन को सफल करने लगी। राजा शिव और रानी श्रीमती—दोनों शुद्ध भावना से धर्म का पालन करते थे। दान, परोपकार, साधु-सेवा आदि का पालन दोनों समान रूप से करते थे।

एक वार धीर नाम के एक शत्रु राजा ने शिव राजा

के अधीन हीरपुर नामक नगर को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। राजा शिव ने भागते हुए धीर की सेना का पीछा किया और उसे युद्ध के लिए ललकारा। दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ। युद्ध में राजा शिव की सेना के पैर उखड़ गए। शिव राजा ने अपनी सेना को उत्साहित किया और राजा धीर को द्वन्द्व युद्ध के लिए चुनौती दी। इस युद्ध में शिव राजा की जीत हुई और शत्रु राजा धीर को वन्दी वना लिया गया। वन्दी धीर को लेकर राजा शिव अपने नगर श्रीवर्द्धनपुर आया और राजवन्दी के रूप में राजा धीर को सम्मानपूर्वक नजरवन्द करके रखा।

एक दिन वन्दी रूप में राजा धीर ने शिव राजा से कहा—

"राजन् ! आपने मुझे परास्त किया है, इसलिए मैं आपके अधीन हूँ। आप मुझे मुक्त करके अभयदान दीजिए। मैं मैत्री का हाथ आपकी ओर वढ़ा रहा हूँ। आप मेरी सुन्दरी नाम की कन्या को अंगीकार करके मुझसे स्थायी प्रेम-सम्वन्ध स्थापित कीजिए।"

राजा धीर की प्रार्थना से प्रसन्न होकर राजा शिव ने उसे सम्मान के साथ मुक्त कर दिया और प्रेम के साथ अपने वरावर आधे सिंहासन पर वैठाया। उत्तम व्यक्तियों का क्रोध वहुत देर तक नहीं रहता। वह प्रणाम करने अथवा क्षमा माँगने के साथ ही समाप्त हो जाता है,

जबकि नीच (प्रकृति वाले) व्यक्तियों का क्रोध प्रणाम करने (क्षमा माँगने) पर भी समाप्त नहीं होता।'

राजा धीर ने अपनी पुत्री सुन्दरी का विवाह राजा शिव से कर दिया और उससे स्थायी प्रेम सम्बन्ध जोड़ा। राजा शिव अपनी पूर्व पत्नी श्रीमती और नव परिणीता सुन्दरी रानी के साथ सुखपूर्वक रहता हुआ प्रजा का पालन करने लगा। उसके सुशासन में प्रजा सुखी थी। दुर्बल, अनाथ, बाल, वृद्ध, तपस्वी और अन्याय द्वारा पीड़ित व्यक्ति के लिए राजा ही एक आधार है।

कुछ काल बाद बड़ी रानी श्रीमती ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। बालक का नाम वीरकुमार रखा गया। बड़े लाड़-प्यार से पाँच धायों की देखरेख में वीरकुमार का लालन-पालन होने लगा। बालक को जन्म देने के अनन्तर धर्म ध्यान में लीन शीलव्रता रानी श्रीमती परलोक सिधार गई और देवलोक में देवी बनी।

इधर राजा शिव रानी श्रीमती के मरण शोक को भूल छोटी रानी सुन्दरी के प्रेमपाश में बँधकर भोगों में मस्त रहने लगा। राजा शिव पूर्णतः धर्मनिष्ठ और सदाचारी था। लेकिन अब उसमें ऐसी कुमति जाग्रत हुई कि वह मिथ्यात्वी हो गया और सुरा-सुन्दरी, आखेट, द्यूत आदि

---

१ उत्तमानां प्रणामान्तकोपो भवति निश्चितम्।
नीचानां न प्रणामेऽपि कोपः शाम्यति कर्हिचित्॥

सातों प्रकार के व्यसनों में लिप्त रहकर दुस्सह कर्मों का वन्ध करने लगा।

देवलोक में देवी श्रीमती ने अपने पूर्व जन्म के पति को अधर्म मार्ग पर चलते देखा तो उसे प्रतिवोध देने का निश्चय किया, क्योंकि सामर्थ्य रहने पर भी यदि (कोई धर्मात्मा) अपने मित्र या सम्बन्धी को पाप कर्म से नहीं रोकता तो ऐसा मनुष्य भी पाप से वज्र लेपवत् हो जाता है, अर्थात् ऐसा समर्थ धर्मात्मा भी पापी ही गिना जाता है।[1]

मनुष्य जन्म के पति राजा शिव को प्रतिवोध देने के विचार से देवी श्रीमती मर्त्यलोक में आई और चाण्डाली का रूप धारण करके श्रीवर्द्धनपुर के राजमार्ग में घूमने लगी। वह मदिरापान करती जाती थी और मांस-भक्षण भी करती थी। उसके हाथ में खप्पर था। चाण्डाली के वीभत्स रूप और कृत्य को देखकर वड़ी घृणा होती थी। इसके साथ ही वह चाण्डाली राजमार्ग पर पानी डालकर पैर रखती थी। ऐसी क्रिया करते-करते वह चाण्डाली राजसभा के निकट आई। उसके इस कृत्य को देखकर राजा के सभासद और राजा वड़े चकित हुए। राजा ने उस चाण्डाली को राजसभा में वुलवाया। चाण्डाली अपने

---

१ सामर्थ्ये सति यो मित्रं न निषेधति पापतः।
तस्यात्मा तस्य पापेन लिप्यते वज्रलेपवत्॥

मार्ग को पानी से सिंचित करते हुए सभा में पहुँची औ अपने बैठने के स्थान को पानी से धोकर ही बैठी।

राजा ने चाण्डाली से पूछा—

"तुम यह ढोंग क्यों करती हो ?"

चाण्डाली ने बताया—

"राजन् ! राजमार्ग में झूठी गवाही देने वाले, जुआरी, शराबी, पर-स्त्री भोगी आदि अनेक प्रकार के पापी भी चलते हैं। इसलिए मैं मार्ग को जल से पवित्र करके ही चलती हूँ।"

चाण्डाली की असंगत बात सुनकर राजा मुस्कराया और व्यंग्यवाणी में बोला—

"चाण्डाली ! एक सहस्र चूहे खाकर बिल्ली तप करने बैठी है। तुम्हारा भी यही हाल है। एक ओर तो तुम मांस भक्षण और मदिरापान कर रही हो और दूसरी ओर मार्ग पवित्र करने का ढोंग कर रही हो। तुम्हारी बुद्धि-हीनता का कोई जवाब नहीं।"

"हे चाण्डाली ! दुष्ट अन्तःकरण वाला मनुष्य तीर्थों में अनेक बार स्नान करने पर भी कभी शुद्ध नहीं होता। वह तो मदिरापात्र के समान अनेक बार धोने पर भी अपवित्र ही रहता है।[1] क्या इस जल प्रक्षालन से तुम्हारा चाण्डालत्व कभी दूर हो सकता है ?"

---

१ चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न शुद्ध्यति।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचिः॥

राजा की ऐसी शुद्ध-सात्त्विक बातें सुनकर चाण्डाली बोली—

"राजन् ! क्या कभी तुमने दर्पण में अपना मुँह देखा है ? मुझे आश्चर्य इसी बात का है कि तुम इतने निर्लज्ज हो। दूसरों को उपदेश देने वाले तो बहुत होते हैं। तुम कण्ठ तक पाप में डूबकर भी मुझे उपदेश देते हो ?"

चाण्डाली की यह बात राजा को बहुत बुरी लगी। उसने खिसियाकर राजसेवकों को आदेश दिया—

"इस दुष्टा को इतने कोड़े लगाओ कि इसकी खाल उतर आये।"

राजसेवक चाण्डाली को पीटने लगे। लेकिन उस पर कोड़ों की मार का कोई असर नहीं हुआ। इस चमत्कार को देख राजा शिव बहुत घबराया—"यह कोई व्यन्तरी, किन्नरी अथवा देवी तो नहीं है ? रुष्ट होकर कहीं यह कुछ उपद्रव न करे।"

राजा ने चाण्डाली से क्षमा माँगते हुए कहा—

"देवी ! तुम जो भी हो, मुझे अपना परिचय दो और यहाँ आने का प्रयोजन बताओ। मैं अपने अविनय की क्षमा चाहता हूँ।"

राजा शिव की प्रार्थना सुनकर देवी श्रीमती ने अपना चाण्डाली रूप त्यागा और कान्तिमती देवी के रूप में प्रकट हुई। देवी श्रीमती ने राजा शिव से कहा—

"राजन् ! पूर्व भव में मैं तुम्हारी पत्नी श्रीमती थी। अपना मनुष्य जन्म समाप्त कर मैं देवलोक में देवी हुई हूँ। धर्म के प्रभाव से ही मुझे देवी भव प्राप्त हुआ है। देवलोक में मैंने जब देखा कि तुम अधर्म मार्ग पर चल रहे हो, सातों व्यसनों में तुम्हारी रुचि है तो तुम्हें प्रतिबोध देने यहाँ चली आई।"

"राजन् ! जिस मार्ग पर तुम चल रहे हो, इस पर चलने वाले को नरक की यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं और फिर दूसरे मनुष्य जन्म में अनेक दुःख उठाने पड़ते हैं। इसलिए शुभकर्म करके अपना आत्म-कल्याण करो राज वैभव तो यहीं रह जायेगा। केवल धर्म ही साथ जायेगा।"

देवी की बात सुनकर राजा शिव ने अधर्म कृत्यों का त्याग कर दिया और दानादि करके अपनी राजलक्ष्मी का सदुपयोग करने लगा। बाद में राजा शिव ने राजकुमार वीरकुमार को राज्य भार सौंपा और मुनि दीक्षा लेकर तप करने लगा। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके राजर्षि शिव ने केवल ज्ञान प्राप्त किया और अनेक लोगों को सत्पथ दिखाया। फिर अनशनपूर्वक शरीर त्यागकर मोक्ष प्राप्त किया।

राजा विक्रमादित्य को कथा सुनाने के बाद श्री सिद्धसेन सूरि ने कहा—

"राजन् ! धर्म से प्राप्त की गई लक्ष्मी को धर्म में ही लगाना चाहिए, क्योंकि धर्म लक्ष्मी को बढ़ाता है और लक्ष्मी धर्म को बढ़ाती है।"[1]

श्री सिद्धसेनसूरि द्वारा कथित बोधक कथाओं को सुनने के बाद राजा ने सूरीश्वरजी को बार-बार प्रणाम किया और श्रावक के बारह व्रतों को ग्रहण किया। राजा ने निश्चय किया कि मूर्ति पूजा द्वारा मैंने मोक्ष प्राप्त करने अथवा स्वर्ग-सुख प्राप्त करने की जो धारणा बनाई थी, वह मिथ्या थी। अब मैं पूरी तरह से धर्म-कर्मों की पालना ही करूँगा।

राजा विक्रमादित्य को प्रतिबोध देकर सूरीश्वरजी ने अन्यत्र विहार किया और राजा अपने राज भवन को लौट आया। इस घटना के अनन्तर जैन और हिन्दुओं में पारस्परिक प्रीति और भी दृढ़ हो गई। राजा ने अपनी प्रजा, मन्त्री आदि तथा अपने परिवार के लोगों को भी जैन धर्म के सिद्धान्तों पर चलने का आग्रह किया। जैसा राजा होता है, वैसी ही प्रजा होती है—यथा राजा तथा प्रजा। अवन्ती की प्रजा भी धीरे-धीरे जैन धर्मानुरागी

---

१ धर्मादभ्यागतां लक्ष्मीं धर्म एव नियोजयेत्।
यतो धर्मस्य लक्ष्म्याश्च दत्ते वृद्धि द्वयोरपि॥

बनती गई और नगर व राज्य में जैन मुनियों का अत्यधिक व्यापक प्रभाव बढ़ गया।

इस प्रकार राजा दानादि करके पूर्णतः शुद्ध सात्विक होकर श्रावक व्रतों का पालन करता था। उसके राज्य में शिकार खेलना, द्यूत खेलना आदि दुर्व्यसन पूर्णतः बन्द हो गए थे। काव्य-शास्त्र के विनोद और धर्म चर्चा में ही राजा विक्रमादित्य का समय बीतता था।

८

दान का सुफल

[महाराज विक्रमादित्य का पूर्व भव]

श्रीसिद्धसेन सूरि से प्रभावित राजा विक्रमादित्य ने महाकाल मन्दिर में उनसे धर्मोपदेश सुना था और उनके द्वारा कथित कहानियों को सुनकर यह निश्चय कर लिया था कि सत्कर्म करके और सद्धर्म का पालन करके ही स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। राजा विक्रमादित्य श्रावक के व्रतों का पालन करते थे और शुभ कर्म करके स्वर्ग के अधिकारी वन रहे थे। उनकी प्रजा भो धर्मनिष्ठ थी, क्योंकि यथा राजा तथा प्रजा।

एक वार सिद्धसेन सूरि पुनः अवन्ती पधारे। अपने मन्त्रियों और रानियों सहित राजा राजोद्यान में विराजमान मुनि के दर्शन को गये। मुनि ने अपनी धर्म सभा को सदुपदेश दिया। वाद में जिज्ञासु राजा विक्रमादित्य ने सूरीश्वर जी से पूछा—

"प्रभो! पिछले जन्म में मैंने ऐसा कौन-सा शुभ कर्म

किया है, जिसके कारण मुझे इतना बड़ा ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है तथा पूरे सौ वर्ष की उम्र पाई है ?"

"भगवन् ! देव-दानवों से भी न जीता जाने वाला खप्पर चोर मेरे हाथों से क्यों मारा गया ? भट्टमात्र मेरा मित्र क्यों वना और अमानवीय पराक्रमी अग्निवेताल मेरे अधीन क्यों कैसे हुआ ?"

"भगवन् ! मेरी शंकाओं का समाधान कर मुझे कृतार्थ करें।"

राजा की जिज्ञासाओं और प्रश्नों को सुनकर सूरीश्वर जी ने कहा—

"राजन् ! मैं तुम्हारा पूर्वभव तुम्हें सुनाता हूँ। पूर्व भव में तुमने जो शुभ कर्म किये, उसी के परिणाम से तुम्हें सभी उपलब्धियाँ प्राप्त हुई हैं।"

मुनि सिद्धसेन सूरि राजा को उनके पूर्वभव की कथा इस प्रकार सुनाने लगे।

बहुत पहले, आघाटक नामक नगर में चन्द्र नाम का एक व्यापारी रहता था। राम और भीम नाम के दो अन्य वणिक् चन्द्र के मित्र थे। तीनों एक दूसरे के सुख-दु:ख के साथी थे। दैवयोग से चन्द्र, भीम और राम तीनों वणिक् मित्र कंगाल हो गये। व्यापार में कभी लाभ तो कभी हानि। भाग्य की माया ही ऐसी है कि भिखारी राजा वन जाता है और राजा भिखारी। दरिद्री से तो मरा हुआ

व्यक्ति ही अच्छा है, क्योंकि मृतात्मा को उसकी संतान द्वारा तर्पण आदि के रूप में पानी मिल जाता है, पर निर्धन को तो कोई एक वूँद भी पानी नहीं देता। ऋण, दुर्भाग्य, आलस्य, भूख और अत्यधिक संतान—ये पाँच चीजें दरिद्रता का परिवार ही हैं। दरिद्रता के साथ इनका महा कष्ट भी भोगना पड़ता है। दरिद्रता का भूषण ऋण तो वहुत ही दुःखदाई है, क्योंकि रोग इसी भव में दुःख-दाई हैं और पाप का दुःख दूसरे जन्म में मिलता है। लेकिन ऋण का कष्ट लोक-परलोक—दोनों में मिलता है।

दरिद्रता से दुःखी वणिक् चन्द्र ने अपने दोनों मित्रों से कहा—

"मित्रो ! कहीं परदेश चलकर भाग्य की परीक्षा करें। अगर भाग्य ने साथ दिया तो देशान्तर में व्यापार करने से दरिद्रता से पीछा छूट जायेगा।"

चन्द्र के प्रस्ताव का अनुमोदन करते हुए भीम व राम दोनों विदेश जाने के लिए तैयार हो गए और पाथेय लेकर तीनों वणिक् मित्र देशान्तर के लिए चल दिये। रास्ते में वकरियों का एक झुण्ड चर रहा था। वक-रियाँ चराने वाला गड़रिया दूर एक पेड़ के नीचे वैठा ऊँघ रहा था। उन वकरियों के वीच एक ह्रष्ट-पुष्ट वकरा भी चर रहा था। चरते-चरते वकरियाँ वकरे पर टूट पड़ीं। यद्यपि वकरा वलवान था, पर एका करके तो चींटियाँ सिंह को भी मार सकती हैं। चन्द्र वणिक् ने

बकरियों के चंगुल से बकरे को छुड़ाया। यदि थोड़ी देर हो जाती तो बकरियाँ बकरे को मार ही डालतीं।

इसके बाद तीनों मित्र आगे बढ़े और एक सरोवर के निकट ठहरे। हाथ-मुँह धोकर तीनों मित्र साथ लाये हुए भोजन को खोलकर बैठे। उसी समय दो मुनि वहाँ आये। घोर तपश्चर्या के कारण उनका शरीर कृश हो गया था। दूर से आते हुए मुनियों को देखकर चन्द्र ने राम व भीम से कहा—

"मित्रो! हमारे सौभाग्य से मुनिजन पधारे हैं। अतः इन्हें आहार बहराकर ही भोजन करना चाहिए, क्योंकि मनुष्य ज्ञान-दान से ज्ञानी, अभय-दान से निर्भय, औषध-दान से नीरोग और आहार-दान से हमेशा सुखी रहता है। इसके विपरीत समर्थ और साधन-सम्पन्न होने पर भी जो दान नहीं देता, वह परभव में दरिद्र बनता है और दरिद्रता के प्रभाव से अनेक पाप करता है तथा पाप करने से नरक में जाता है तथा पुनः दरिद्रता पाता है। इस प्रकार दान न देने वाला बार-बार दरिद्रता के चक्र में ही घूमता रहता है।"[1]

"मित्रो! किसी के पास धन, किसी के पास उदार

---

१ अदत्तादानाच्च भवेद् दरिद्रो, दरिद्रभावाद् वितनोति पापम्।
पापं हि कृत्वा नरकं प्रयाति, पुनर्दरिद्रः पुनरेव पापी॥

हृदय और किसी-किसी के पास हृदय और धन—दोनों होते हैं। इन सव के साथ धन, मन तथा सुपात्रदान का संयोग, ये तीनों किसी पुण्यात्मा को ही प्राप्त होते हैं।"[1]

चन्द्र के युक्तियुक्त वचनों से दोनों मित्र प्रभावित हुए और आगे वढ़कर तीनों ने मुनि की वन्दना की तथा चन्द्र ने अपने भोजन में से दोनों मुनियों को भोजन वहराया। मुनियों ने तीनों वणिक् मित्रों को धर्मोपदेश देकर संतुष्ट किया। इसके बाद तीनों मित्र आगे एक नगर में पहुँचे। वहाँ वीर नाम के किसी व्यापारी से चन्द्र वणिक् का झगड़ा हो गया। वीर व्यापारी ने चन्द्र वणिक् के मर्म-स्थान पर आघात किया, इससे चन्द्र मृत्यु को प्राप्त हुआ। वाद में आयुष्य पूर्ण कर भीम और राम के नाम के चन्द्र के दोनों मित्र भी परलोक सिधार गये।

इस कथा को सुनाने के वाद सूरीश्वर जी ने राजा विक्रमादित्य से कहा—

"राजन् ! पिछले जन्म में तुम्हीं चन्द्र नाम के व्यापारी थे। सुपात्र दान के फलस्वरूप तुम्हें यह विपुल ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है। तुम्हारे दोनों मित्र राम और भीम में से एक भट्टमात्र वना और दूसरा अग्निवेताल। पूर्व प्रीति के

---

१ केसिं चि होई वित्तं चित्तमन्नेसिं उभयमन्नेसिं।
चित्तं वित्तं पत्तं किन्नि विं केसि च धन्नाणं॥

कारण भट्टमात्र तुम्हारा मित्र बना और इसीलिए अग्नि वेताल तुम्हारा आज्ञाकारी बना।"

"राजन् ! बकरियों से तुमने बकरे को बचाया था इसलिए तुम्हें पूरे सौ वर्ष की उम्र मिली है। जिस वी नामक वणिक् ने तुम्हारी हत्या की थी, वही इस जन्म खप्पर चोर हुआ और पूर्व कर्मबन्ध के कारण वह तुम्हा हाथ से मारा गया।"

"राजन् ! किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल हरेक क भोगना पड़ता है। इनको भोगे बिना किसी का छुटकार नहीं। जिनको लोग अवतार मानते हैं, उन राम को भ निरपराध वन-वन भटकना पड़ा था।"

यों तो राजा विक्रमादित्य पहले से ही धर्मनिष्ठ थे लेकिन अपना पूर्व भव सुनने के बाद वे धर्म में और भ निष्ठावान हो गये।

राजा विक्रमादित्य ने गुरु सूरीश्वरजी के सामने अप पापों की आलोचना की और सूरीश्वरजी ने प्रत्येक का प्राय श्चित राजा को बताया। राजा ने सबका प्रायश्चित्त क अपने पापों का उन्मूलन किया। 'परोपकाराय सत विभूतयः' के अनुसार राजा विक्रमादित्य का जीवन परोप कार, जीवदया, दानादि धर्म कृत्यों को पूर्णतः अर्पित था

९

काव्य-प्रेम

राजा वीर विक्रमादित्य ने जैन श्रमणों व सत्संग से प्रभावित होकर अपने राज्य में अनेक कल्याणकारी परिवर्तन किये। मालव की प्रजा दैहिक, दैविक और भौतिक— तीनों प्रकार के दुःखों से सुरक्षित थी। रात को कोई भूखा नहीं सोता था। 'अभाव' शब्द केवल पुस्तकों और शब्दकोशों में ही मिलता था, अवन्ती में उसके दर्शन दुर्लभ थे। राजा-प्रजा दोनों का अधिकांश समय धर्मश्रवण में बीतता था। एक बार श्री सिद्धसेन सूरीश्वरजी ने अवन्ती में ही चातुर्मास किया और अपने प्रवचन में दान, धर्म, त्याग तथा परोपकार से सम्बन्धित शुकराज कुमार आदि की अनेक कथाएँ सुनाईं।

'काव्यशास्त्रविनोदेन कालोगच्छति धीमताम्' के अनुसार राजा विक्रमादित्य का समय काव्य-चर्चा में ही बीतता था। उसकी राजसभा में अनेक सुकवि और आशुकवि रहते थे, जो राजा को अपने काव्य-पाठ से चमत्कृत किया करते थे। दूर-दूर के सुकवि राजा के

दरवार में आकर राजा को अपने काव्य से चमत्कृत करते थे और राजा उन्हें प्रचुर धन देकर सम्मानित करता था।

एक बार राजसभा में एक दीन-हीन मनुष्य आया। उसने झुककर राजा को मौन अभिवादन किया और चुपचाप राजा की ओर देखने लगा। राजा ने दीन मनुष्य की मुखाकृति देखकर विचार किया कि दरिद्रता के समान संसार में कोई दुःख नहीं है। इस व्यक्ति के चेहरे पर दीनता, भय, त्रास और याचना के चिह्न अंकित हैं। अतः विना माँगे ही मुझे कुछ देना चाहिए। यह सोच, राजा ने अपने सेवक को संकेत से कहा कि एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ लाकर इस व्यक्ति को दो। स्वर्ण-मुद्राएँ प्राप्त करके भी वह व्यक्ति कुछ नहीं वोला तो राजा ने पूछा—

"भाई! तुम बोलते क्यों नहीं हो? तुम्हारे विना वोले जो कुछ मैंने समझा, उसकी पूर्ति कर दी। अव मुझे वताओ कि तुम्हें क्या देकर सन्तुष्ट करूँ।"

राजा की वात सुनकर उक्त याचक ने यह दोहा पढ़ा—

लज्जा का ताला लगा, मेरे मुख पर आज।
निर्धनता कुछ चाहती, क्या बोलूँ नरराज॥

अर्थात् हे राजन्! निर्धनता माँगने को कहती है और लज्जा वोलने से रोकती है, अतः मैं क्या कहकर वोलूँ?

याचक की इस काव्योक्ति से प्रसन्न होकर राजा विक्रमादित्य ने दस हजार मुद्राएँ उसे और दीं। राजा से

प्रचुर धन प्राप्त करने के बाद याचक ने पुनः ये पंक्तियाँ सुनाईं।

तेरे रिपुओं की सदा, कीर्ति रहे उन गेह।
फिर भी है व्यभिचारिणी, नहीं मुझे सन्देह॥
दिग्दिगन्त में घूमती, राजा तेरी कीर्ति।
तो भी सती-समान है, कैसी उल्टी रीति॥[1]

अर्थात् हे राजन्! शरीर से बाहर न निकलने वाली तुम्हारे शत्रुओं की कीर्ति व्यभिचारिणी कहलाती है और चारों दिशाओं में घूमने वाली तुम्हारी कीर्ति सती कहलाती है। सती स्त्री की तरह तुम्हारी कीर्ति हर जगह घूमकर भी तुम्हारी ही रहती है, किसी और की नहीं हो पाती, इसीलिए वह सती के समान है।

याचक की इस काव्योक्ति और व्याजस्तुति से राजा बहुत प्रसन्न हुआ और एक लाख स्वर्ण-मुद्राएँ देकर उसे पुनः सम्मानित किया। इसके बाद राजा ने याचक से कहा—

"भद्र! इसी प्रकार कोई चमत्कारिणी कथा सुनाकर मुझे और मेरी सभा को आनन्दित करो।"

याचक इस प्रकार कथा सुनाने लगा।

□

---

१ अनिस्सरन्तीमपि देहगर्भात्कीर्तिं परेषांच सती वदन्ति।
स्वैरं भ्रमन्तीमपि च त्रिलोक्यां त्वत्कीर्तिमाहुः कवयः सती तु॥

१०

मित्रद्रोह की कहानी

[याचक की जबानी]

विशालपुरी में नन्द नाम का एक राजा राज्य करता था। नन्द राजा की रानी भानुमति अनिन्द्य सुन्दरी थी। राजा उसके विना एक पल भी अकेला नहीं रह सकता था। राजसभा में भी रानी भानुमती राजा के वामांग में आधे सिंहासन पर बैठती थी।

राजा का महामात्य 'वहुश्रुत' वहुत ही दूरदर्शी और बुद्धिमान था। राजगुरु शारदानन्द शास्त्रज्ञ, मन्त्रविद् और महाज्ञानी थे। विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती उनकी जिह्वा पर सदा विराजमान रहती थी। राजपुत्र विजय आखेटप्रिय और घुमक्कड़ स्वभाव का था।

एक वार महामात्य वहुश्रुत ने राजा नन्द से कहा--

"राजन् ! महारानी भानुमती की शोभा तो अन्तःपुर में ही है। उनका राजसभा में वैठना अच्छा नहीं लगता, क्योंकि दूर-दूर से आने वाले अतिथि राजाओं पर इसका

अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। लोग यही समझते हैं कि विशालपुरी का राजा नन्द स्त्रैण्य है।"

मन्त्री के युक्तियुक्त कथन को सुनकर राजा नन्द ने कहा—

"महामन्त्री ! तुम कहते तो ठीक हो, पर यह मेरी विवशता है कि मैं रानी भानुमती के विना एक क्षण भी नहीं रह सकता।"

राजा की विवशता सुनकर मन्त्री ने सलाह दी—

"राजन् ! आप महारानी जी का एक यथार्थ चित्र वनवा लीजिए। सभा में उसी चित्र को अपने पास रखिये। इससे आपकी इच्छा भी पूरी हो जायेगी और राजसभा की मर्यादा भी वनी रहेगी।"

राजा को यह वात पसन्द आई। उसने एक कुशल चित्रकार को रानी के सम्मुख वैठाया और उसका यथार्थ चित्र वनाने को कहा। चित्रकार ने यथासमय रानी भानुमती का यथार्थ चित्र वनाकर राजा को दिया। राजा को चित्र वहुत पसन्द आया। राजा ने वह चित्र गुरु शारदानन्द को दिखाते हुए कहा—

"गुरुदेव ! कैसा यथार्थ चित्र वना है ! कोई भी चीज छूटी नहीं है। एक-एक रोम में यथार्थता है।"

चित्र को देखकर गुरु शारदानन्द ने कहा—

"राजन् ! इस चित्र को यथार्थ चित्र नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रानी की जाँघ पर जो तिल है, वह तो इसमें है ही नहीं।"

गुरु के मुख से ऐसा विचित्र कथन सुनकर राजा नन्द सन्न रह गया। उसने गुरु को कोई जवाब नहीं दिया और मन-ही-मन सोचने लगा—"रानी की जाँघ पर तिल है। बात तो ठीक है। लेकिन इस तिल का भेद या तो मैं जानता हूँ, या रानी जानती है। इनको कैसे मालूम हुआ ? शारदानन्द धूर्त है। इसने मेरी रानी का गुप्त तिल देखा हैं। यही वात कोई और सुनेगा तो क्या सोचेगा ?"

राजा ने गुरु शारदानन्द को गुप्त रीति से मरवाने का निश्चय कर लिया। राजा के गुप्त सेवक गुरु शारदानन्द को मारने ले चले। जैसी होनहार होती है, वैसी ही स्थिति बन जाती हैं। राजा के इस षड्यन्त्र का भेद मन्त्री बहुश्रुत को भी लग गया। मन्त्री ने गुप्त सेवकों को अपनी ओर से कुछ धन देकर गुरु शारदानन्द को मुक्त कराया और उन्हें अपने महल के तलघर में छिपाकर रखा। किसी को कुछ पता नहीं चला। राजा ने नगर में घोषणा करा दी कि गुरु शारदानन्द तप करने चले गये हैं। गुरु को मरवाकर राजा प्रसन्न था। इसी तरह समय वीत रहा था।

×   ×   ×

एक वार राजकुमार विजय अपने आखेट दल के साथ

मृगया के लिए वन में गया। संयोग से वह अपने साथियों से बिछुड़ गया और अकेला ही वन में घूमने लगा। उसी समय राजकुमार विजय को एक बाघ ने घेर लिया। अपने प्राण बचानें के लिए राजपुत्र एक पेड़ पर चढ़ गया और उसका घोड़ा अकेला ही नगर को लौट गया। राजकुमार के बिना खाली घोड़े को देख राजा को बहुत चिन्ता हुई। राजसेवक राजकुमार की खोज में निकल पडे।

जिस पेड़ पर राजकुमार विजय ने बाघ से बचने के लिए आश्रय लिया, उसी पेड़ पर एक बानर भी पहले से बैठा हुआ था। राजकुमार को पेड़ पर आया देख बानर ने उससे कहा—

"राजपुत्र ! तुम निश्चिन्त होकर मेरे पास रहो। यह बाघ तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ पायेगा। यद्यपि यह तुम्हारी प्रतीक्षा में नीचे बैठा है। लेकिन कब तक बैठा रहेगा ? हारकर चला जायेगा।"

राजकुमार और बानर मैत्री भाव से पेड़ पर बैठे रहे। थोड़ी ही देर बाद बानर की गोद में सिर रखकर राजपुत्र विजय सो गया। विजय को सोया देख पेड़ के नीचे बैठे बाघ ने बानर से कहा—

"हे बानर ! इस मनुष्य से तेरा क्या रिश्ता है ? हम तुम दोनों इसी जंगल के वासी हैं। यह मनुष्य बड़ा कृतघ्न होता है। जिस थाली में खाता है, उसी में छेद करता है।

अतः तू इस मनुष्य को नीचे फेंक दे। इसे खाकर मैं चला जाऊँगा।"

वानर ने वाघ से कहा--

"मैं इसे अपने जीते जी नीचे नहीं फेंकूँगा। क्योंकि यह मेरी शरण में आया है। दूसरे, यह मेरा मित्र भी है। मित्र के साथ द्रोह करने से निश्चित ही नरक मिलता है। अच्छा यही है कि तू इसकी आशा छोड़ दे और अपना रास्ता देख।"

वानर के उत्तर से वाघ निराश तो हुआ, पर उसने अपना धीरज नहीं खोया। वहीं पेड़ के नीचे धरना दिये बैठा रहा। अपनी नींद पूरी करके राजकुमार विजय जग गया और वानर उसकी गोद में सिर रखकर सो गया। वानर को सोया देख वाघ ने राजकुमार से कहा--

"हे मनुष्य ! यह पेड़ इस वन्दर का तो घर ही है। यह तो यहीं रहेगा। लेकिन तू यहाँ कब तक बैठा रहेगा? अतः तू इस वानर को नीचे फेंक दे। इसे खाकर में चला जाऊँगा और तू भी अपने घर जा। तेरे माता-पिता तेरे विना वहुत चिन्तित होंगे।"

राजकुमार विजय वाघ की वातों में आ गया और उसने वानर को नीचे फेंक दिया। वाघ ने वानर को मुँह में दवा लिया। इस पर वानर ठहाका मारकर हँसने लगा। वानर को हँसता देख वाघ ने उससे हँसने का

कारण पूछने के लिए ज्योंही मुँह खोला कि पहले से सजग-सावधान बानर फुर्ती से पेड़ पर जा बैठा और जोर-जोर से रोने लगा। वन्दर को रोते देख वाघ ने आश्चर्य के साथ पूछा—

"अरे वानर ! तू वड़ा विचित्र है। जब तू मौत के मुँह में था, तव तो तू हँस रहा था और अव तुझे हँसना चाहिए, सो रो रहा है। तेरे इस असंगत रोने का क्या रहस्य है?"

वानर ने कहा—

"वाघ ! अपने प्राण वचाने के लिए मैं हँसा था और मेरे रोने का कारण यह है कि मित्रद्रोह के कारण यह राजकुमार नरक में जायेगा। लेकिन मैं इसको जीवित ही छोड़ता हूँ।"

निराश होकर वाघ जंगल में अन्यत्र चला गया और वानर ने राजकुमार के कान में 'विसेमिरा' शब्द पढ़ दिया। इससे राजकुमार पागल हो गया और 'विसेमिरा' शब्द का उच्चारण करते हुए जंगल में भटकने लगा। इधर उसे ढूँढ़ते हुए राजा के सेवक उसी जंगल में आ पहुँचे और उसे नगर को ले गए।

राजकुमार विजय 'विसेमिरा' के अतिरिक्त कुछ कहता ही नहीं था। उसकी इस शोचनीय हालत को देखकर राजा बहुत दुःखी हुआ। अनेक गुणी चिकित्सकों को बुलाकर

राजा ने कुमार को दिखाया, पर उसकी विक्षिप्तता दूर नहीं हुई। सब तरह से निराश होकर राजा ने कहा— "आज यदि मेरे गुरु शारदानन्द जीवित होते तो वे विजयकुमार को अवश्य ठीक कर देते।" राजा का यह कथन मन्त्री बहुश्रुत ने तलघर में छिपे शारदानन्द को सुनाया। गुरु परदुखकातर थे। उन्होंने मन्त्री को एक योजना बताई। उस योजना के अनुसार मन्त्री ने राजा नन्द से कहा—

"राजन्! मेरी पुत्रवधू मन्त्रविद् और शास्त्रज्ञ है। वह कुमार का पागलपन अवश्य दूर कर देगी। राजकुमार 'विसेमिरा' के अतिरिक्त कुछ बोलते ही नहीं। मेरी पुत्रवधू 'विसेमिरा' शब्द के प्रत्येक अक्षर पर एक-एक मन्त्र सुनायेगी। इससे राजकुमार ठीक हो जायेंगे। लेकिन मेरी पुत्रवधू परदे की ओट में ही मन्त्र पाठ करेगी।"

योजनानुसार मन्त्री बहुश्रुत की पुत्रवधू एक परदे की आड़ में बैठ गई। परदे के सामने राजा नन्द, रानी भानुमती, मन्त्री बहुश्रुत तथा अन्य मन्त्री बैठे। यथासमय परदे की ओट में बैठी मन्त्री की पुत्रवधू ने कहा—

विश्वासघात करने में क्या, बहुत बड़ी चतुराई ?
गोद पड़े बानर को फेंका, कौनी पाप-कमाई ॥१॥[1]

---

१ विश्वासप्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धता।
अंकमारुह्य सुप्तं हि हन्तुं किं नाम पौरुषम् ॥

इस पाठ को सुनने के बाद राजकुमार विजय 'वि' अक्षर को छोड़कर 'सेमिरा' तीन अक्षरों का उच्चारण करने लगा। इसके बाद मन्त्री की पुत्रवधू ने दूसरा पाठ पढ़कर सुनाया—

सेतु-जलधि गंगासागर पर, मुक्त पाप से होते।
मित्रद्रोह से जीवन सारा, रोते-रोते बीते ॥२॥[1]

दूसरे पाठ को सुनने के अनन्तर राजकुमार 'मिरा' इन दो शब्दों को जोर-जोर से बोलने लगा। इसके बाद मन्त्री की पुत्रवधू ने तीसरा पाठ इस प्रकार सुनाया—

मित्रद्रोह-विश्वासघात संग, कृतघ्नता अरु चोरी।
इन चारों का करने वाला, रहे नरक की मोरी ॥३॥[2]

इस पाठ को सुनने के बाद राजकुमार केवल 'रा' अक्षर को जोर-जोर से बोलने लगा। मन्त्री की पुत्रवधू ने चौथा पाठ पढ़कर सुनाया—

राजन् ! चाहो भला पुत्र का, सन्तों को दान करो।
दान-धर्म करके निज सुत का, निज का कल्याण करो ॥४॥[3]

---

१ सेतुंगत्वा समुद्रस्य गंगासागरसंगमे।
ब्रह्महा मुच्यते पापैर्मित्रद्रोही न मुच्यते ॥

२ मित्रद्रोही कृतघ्नश्च स्तेयी विश्वासघातकः।
चत्वारो नरकं यान्ति यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥

३ राजस्त्वं राजपुत्रस्य यदि कल्याणमिच्छसि।
देहि दानं सुपात्रेभ्यो गृही दानेन शुद्ध्यति ॥

चारों पाठों को सुनने के वाद राजकुमार ने 'विसेमिरा' का विक्षिप्त-प्रलाप त्याग दिया। उसने जो कुछ वानर के साथ किया था, उसकी स्मृति उसे हो आई और वह पूर्ण स्वस्थ हो गया। राजा नन्द ने राजकुमार से पूछा कि तुम्हारी यह दशा कैसे हुई तो उसने वाघ, बानर और अपनी सव बातें राजा को सुनाईं। सब वृत्तान्त सुनने के वाद राजा ने मन्त्री की पुत्रवधू से पूछा—

"वहू ! तुमको इस रहस्य का कैसे पता लगा ? तुम्हारे पास कौन-सी विद्या है ?"

पर्दे की आड़ में से मन्त्री की पुत्रवधू ने कहा—

"राजन् ! जिस तरह से तुम्हारे गुरु शारदानन्द ने रानी भानुमती की जाँघ के तिल का रहस्य खोला था, उसी तरह मैंने तुम्हारे पुत्र के मित्रद्रोह को जाना है।" जिनकी जिह्वा पर माँ शारदा विराजित रहती हैं, उनके लिए सब अदृश्य दृश्य हो जाता है।"

मन्त्री की पुत्रवधू की यह वात सुनकर राजा नन्द ने तुरन्त पर्दा खींचा और मन्त्री की पुत्रवधूरूपी गुरु शारदानन्द के चरणों में गिरकर अपने अक्षम्य अपराध की रो-रोकर क्षमा माँगने लगा। पूरी सभा के सामने जब इस रहस्य का उद्‌घाटन हुआ तो सभी चमत्कृत और हर्षित थे। राजा ने अपनी मन्त्री की वार-बार प्रशंसा की और कहा—

"मन्त्री ! तुमने मेरे साथ बहुत बड़ा उपकार किया है। तुम्हारी दूरदर्शिता के कारण मैं तो भारी पाप से बच ही गया, मेरे पुत्र को भी नया जीवन मिला।"

याचक की जबानी यह कथा सुनकर राजा विक्रमादित्य इतने प्रसन्न हुए कि उक्त याचक को एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं का दान देकर उसे पुनः सम्मानित किया।

राजा से दान लेकर याचक अपने स्थान को लौट गया और राजा दूर-दूर से आये याचकों को यथेष्ट दान देकर सन्तुष्ट करने लगा।

११

ग्वाला और प्रियंगुमंजरी

महाराज विक्रमादित्य का विक्रमचरित्र जैसा सुयोग्य, वीर और साहसी पुत्र तो था ही, परम रूपवती और विदुषी प्रियंगुमंजरी नाम की पुत्री भी थी। इसका जन्म पट्टमहिषी कमलावती की कोख से हुआ था। उसकी रूप-छवि को देखकर ऐसा लगता था, मानो सौन्दर्य सागर से ही उसका जन्म हुआ हो।

अवन्ती में वेदगर्भ नाम के एक विद्वान पण्डित थे। सभी शास्त्रों में उनकी पैठ थी। अपनी विद्वत्ता के लिए वे देशभर में समादृत और प्रसिद्ध थे। राजा विक्रमादित्य ने राजकुमारी की शिक्षा के लिए महापण्डित वेदगर्भ को ही नियुक्त किया था। प्रतिभावान् छात्र के लिए गुरु वस्तुतः निमित्त ही होता है। जन्मतः मूढ़ को तो साक्षात् ब्रह्मा और देवगुरु वृहस्पति भी नहीं पढ़ा सकते। प्रियंगु-मंजरी विचक्षण बुद्धि की छात्रा थी। वेदगर्भ जैसे महा-पण्डित गुरु का मार्गदर्शन पाकर वह पूर्णतः पण्डिता बन गई। शास्त्र-विवेचन में उसका जोड़ नहीं था। चौंसठ

कलाओं में वह निष्णात थी। उसके सामने बड़े-बड़े विद्वान झुकते थे। प्रियंगुमंजरी जैसी शिष्या को पाकर गुरु वेद-गर्भ अपने को धन्य समझते थे और राजा विक्रमादित्य भी प्रियंगुमंजरी को देखकर गर्व का अनुभव करते थे।

एक बार राजकुमारी प्रियंगुमंजरी अपने निजी महल के झरोखे में बैठकर आम खा रही थी। संयोग से उसी समय गुरु वेदगर्भ कहीं से आ रहे थे और मार्ग की थकान मिटाने के लिए झरोखे के नीचे बैठ गये। राजकुमारी ने अपने गुरु को पहचान कर कहा—

"गुरुजी ! आप ऊपर पधारें। मेरे पास बहुत मीठे आम रखे हैं। आप यहाँ पधार कर आम खाइए।"

गुरुजी ने नीचे से कहा—

"प्रियंगुमंजरी ! मैं ऊपर आकर क्या करूँगा ? तू वहीं से एक आम फेंक दे।"

राजकुमारी ने कहा—

"गुरुदेव आप ठण्डा आम खायेंगे या गरम ? मेरे पास दोनों तरह के आम हैं।"

गुरु ने कहा—

"मेरे लिए एक गरम आम ही फेंक दे।"

गुरु वेदगर्भ ने नीचे से उत्तरीय फैलाया और राज-कुमारी ने ऊपर से आम फेंका। राजकन्या ने आम इस चतुराई से फेंका कि वह गुरु वेदगर्भ के वस्त्र में न गिरकर

नीचे धूल में गिर गया। गुरु ने आम उठाया और फूंक-फूंक कर उसकी धूल उड़ाने लगे। गुरु को ऐसा करते देख राजकुमारी खिलखिलाकर हँस पड़ी और परिहास करते हुए बोली—

"गुरुजी ! आम इतना गरम है ? आप उसे फूंक-फूंक कर ठण्डा कर रहे हैं ?"

राजकुमारी प्रियंगुमंजरी के इस परिहास से गुरु वेदगर्भ अप्रसन्न हो गये। राजपुत्री के इस विनोद को उन्होंने अपना अपमान समझा। अतः क्रुद्ध होकर उन्होंने शाप दिया—

"राजपुत्री ! तुझे अपने पाण्डित्य का बहुत अहंकार है। मुझसे ही तूने योग्यता प्राप्त की है और मेरा ही अपमान कर रही है। मैं तुझे शाप देता हूँ कि तेरा विवाह एक मूर्ख और चरवाहे से होगा। आज की हँसी तुझे बहुत महँगी पड़ेगी और तू जीवनभर रोती रहेगी।"

गुरु का शाप सुनकर राजकुमारी काँप गई। गुरु का शाप अन्यथा नहीं हो सकता। लेकिन अधिक सोचने और चिन्ता करने से क्या कभी भवितव्यता बदली जा सकती है ? राजकुमारी प्रियंगुमंजरी ने निश्चय किया—'भाग्य में जो होगा, वह तो भोगना ही है। फिर भी मैं प्रतिज्ञा करती हूँ कि मैं काष्ठभक्षण करके मर जाऊँगी, पर एक गोपाल चरवाहे के साथ कदापि विवाह नहीं करूँगी।'

राजकुमारी को विवाह योग्य देख राजा विक्रमादित्य के मन्त्री उसके लिए योग्य वर की तलाश करने लगे, पर कोई भी अनुकूल वर नहीं मिला। राजा विक्रमादित्य चाहते थे कि जिस तरह मेरी पुत्री पण्डिता है, उसी तरह उसका पति कोई राजकुमार तो हो ही, साथ ही उद्‌भट विद्वान भी हो। विवाह के वाद तो पुत्री अपने भाग्य से सुख यां दुःख भोगती है, पर माता-पिता तो यही चाहते हैं कि उनकी पुत्री को ऐसा वर मिले, जो उसे सुख के झूले में झुलाता रहें।

प्रियंगुमंजरी के लिए योग्य वर न मिलने के कारण राजा विक्रमादित्य वहुत चिन्तित रहने लगे। उन्हें उदास देख एक दिन गुरु वेदगर्भ ने पूछा—

"राजन् ! आजकल आप बहुत उदास रहते हैं। इस उदासी का क्या कारण है ?"

राजा ने वताया—

"हे विप्र ! राजकुमारी के लिए मैंने बहुत वर देख डाले। वड़े-बड़े शूरवीर और कुलीन राजपुत्र उससे विवाह करने के इच्छुक हैं। लेकिन राजकुमारी अपने समान किसी शास्त्रज्ञ पण्डित से ही विवाह करना चाहती है। मैं भी यही चाहता हूँ कि जैसे मेरी पुत्री पण्डिता और विदुषी है, मेरा जामाता भी सरस्वती पुत्र हो।"

राजा की समस्या सुनकर गुरु वेदगर्भ को अपने शाप का स्मरण हो आया। उन्होंने सोचा, 'लगता है, मेरे द्वारा

दिये गये शाप की पूर्ति मेरे ही द्वारा होगी।' ऐसा सो: उन्होंने राजा से कहा—

"राजन्! आज से आप चादर तान कर निश्चिन्त सोइये। यह काम मेरे ऊपर छोड़िये। विद्वन्मण्डल में मेरी पैठ है। मैं राजकुमारी के लिए शीघ्र ही ऐसा वर ढूँढ़कर लाऊँगा जो साक्षात् बृहस्पति और सरस्वती पुत्र हो।"

राजा विक्रमादित्य निश्चिन्त हो गये और गुरु वेदगर्भ किसी ग्वाले अथवा चरवाहे की खोज में लग गये। ग्वाले की खोज में एक दिन वे बहुत दूर एक गाँव में पहुँचे। इस गाँव में भी उन्हें अपनी पसन्द का चरवाहा नहीं मिला। गरमी की दोपहरी में भी विश्राम किये बिना वे किसी दूसरे गाँव में जाने लगे। गाँव से बाहर उन्हें एक ग्वाला मिला, जो 'डीउ-डीउ' करते हुए गायें चरा रहा था। गुरु वेदगर्भ उस ग्वाले के पास आये और बोले—

"हे ग्वाले! मुझे बड़ी जोर की प्यास लगी है। अगर तुम मुझे पानी पिला दो तो प्रभु तुम्हारा कल्याण करें।"

गोपाल ने कहा—

"विप्र! पानी तो यहाँ कहीं नहीं है। अगर आप दूध से तृपातृप्त हो सकें तो मैं गाय का दूध दुहकर आपको पिला दूँगा।"

गुरु वेदगर्भ ने कहा—

"अच्छा भाई, दूध ही पिलाओ। दूध से तृषा-क्षुधा—

दोनों शान्त हो जायेंगी। इन्हीं दोनों की शक्ति के लिए तो मनुष्य इतनी भाग-दौड़ करता है।"

भोले ग्वाले ने कहा—

"विप्र ! कुछ लोग दूसरों का अनिष्ट करने के लिए भी भाग-दौड़ करते हैं।"

कभी-कभी सरल-सहज कथन में भी बहुत बड़ा सत्य छिपा रहता है। गोपाल की बात से वेदगर्भ कटकर रह गये। लेकिन एकदम उन्हें ऐसी प्रसन्नता हुई, मानो कोई खोई हुई चीज मिल गई हो। उन्होंने सोचा—'यह ग्वाला अनपढ़ होते हुए भी चतुर मालूम पड़ता है। विद्या तो अर्जित गुण है, बुद्धि तो भगवान की देन है। अनपढ़ भी बुद्धिमान हो सकता है और पढ़ा-लिखा विद्वान भले ही बन जाये, पर बुद्धिमान भी हो, यह जरूरी नहीं।'

गुरु को विचारों में डूबे हुए देख ग्वाले ने कहा—

"विप्रदेव ! आप अपनी करचण्डी मुँह से लगाकर नीचे बैठिये। मैं गाय का दूध दुहे देता हूँ।"

ग्वाले का कथन सुनकर वेदगर्भ बगलें झाँकने लगे। आंचलिक भाषा में कहे गये 'करचण्डी' शब्द का अर्थ वे नहीं समझे। वेदगर्भ को मौन देख ग्वाले ने अपने दोनों हाथ मिला कर मुँह से लगाये और कहा—

"इस तरह करपात्र बनाइए। हम गाँव के लोग इसी को करचण्डी कहते हैं।"

वेदगर्भ ने तृप्त होकर दूध पिया और ग्वाले से बोले-

"ग्वाले ! तू मेरे साथ चल। मैं तेरा विवाह एक राजकुमारी से कराऊँगा।"

ब्राह्मण की बात सुनकर आश्चर्य से आँखें फाड़ते हुए ग्वाला बोला—

"विप्रदेव ! मेरे साथ तो कोई भीलनी भी विवाह नहीं करेगी। आप ऐसी बेसिर-पैर की क्यों हाँक रहे हैं ? हाँ किसी राजकुमारी को गाय चराने का शौक चर्राया हो तो बात दूसरी है।"

विप्रवर वेदगर्भ ने गम्भीरता से कहा—

"ग्वाले ! मैं जो कह रहा हूँ, सच कह रहा हूँ। मनुष्य के भाग्य का कुछ पता नहीं, क्या से क्या हो जाय। एक लुटेरा और हत्यारा रत्नाकर आगे चलकर आदिकवि वाल्मीकि बन गया। तो क्या एक ग्वाला राजा का जामाता नहीं बन सकता। तेरा भाग्य और मेरी युक्ति—इन दोनों के योग से तू एक राजकुमारी का पति अवश्य बनेगा।"

यह कहकर गुरु वेदगर्भ ग्वाले को अपने घर ले गए और कुछ दिन उसे अपने घर में ही रखा। कुछ ही दिन में उक्त ग्वाला एक विद्वान के से आचरण जान गया। पहनने-ओढ़ने के तौर-तरीके और सभा के व्यवहार सभी सीख गया। इसके बाद वेदगर्भ ने राजा विक्रमादित्य से कहा—

"राजन् ! एक विद्वान मेरे घर आया हुआ है। ऐसा विद्वान इस धरती पर दूसरा नहीं है। मैंने उसे सब तरह से राजकुमारी के योग्य समझा है। आपकी क्या आज्ञा है ?"

राजा ने हर्षित होकर कहा—

"विप्रदेव ! उस पण्डित को शीघ्र ही राजसभा में ले आइये। आपका चुनाव कभी गलत नहीं हो सकता। मेरी सभा में एक-से-एक बढ़कर पण्डित हैं। पण्डितों की शोभा पण्डितों में ही है। हम सब लोग उसके पाण्डित्य को देखने के लिए उत्सुक हैं।"

वेदगर्भ का षड्यन्त्र लगभग सफल रहा। राजसभा में क्या कहना है, क्या नहीं कहना, इन सब बातों को समझाकर विप्र वेदगर्भ विद्वान रूपी ग्वाले को लेकर दूसरे दिन राजसभा में पहुँचे। राजा विक्रमादित्य ने दोनों को प्रणाम किया। गुरु वेदगर्भ ने 'स्वस्ति' कहकर राजा को आशीर्वाद दिया। लेकिन मूर्ख ग्वाला 'स्वस्ति' कहना भूल गया और जल्दी में 'उपरट' शब्द कह बैठा। उसके इस अर्थहीन विचित्र आशीर्वाद को सुनकर राजा विक्रमादित्य चकराये। 'इस मूर्ख ने तो आते ही भण्डाफोड़ कर दिया' यह सोच बात को सँभालते हुए पण्डित वेदगर्भ ने राजा से कहा—

"राजन् ! इस नवीन पण्डित ने आपको अपूर्व आशीर्वाद दिया है। इसके 'उपरट' शब्द में बहुत विस्तृत

व्याख्या छिपी हुई है। इसके पहले अक्षर 'उ' का अर्थ 'उमा', 'ष' का अर्थ 'शंकर', 'र' का 'रक्षतु' और 'ट' का 'टंकार' है। इस संक्षिप्त आशीप वचन का पूर्ण रूप इस प्रकार है—

उमया सहितो रुद्रः, शङ्करः शूलपाणियुक्।
रक्षतु तव राजेन्द्र ! टणत्कारकरं यशः॥

"अर्थात् उमापति त्रिशूल को धारण करने वाले शंकर तुम्हारी रक्षा करें और तुम्हारी टंकार (कीर्ति) चारों ओर फैले।"

ऐसा अपूर्व आशीर्वचन सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा, 'निश्चय ही यह कोई सरस्वती पुत्र है। राजकुमारी प्रियंगुमंजरी के लिए इससे अच्छा वर और कहाँ मिलेगा ?'

राजा को विचारमग्न देख वेदगर्भ ने सोचा, 'मेरा तीर निशाने पर लगा है।' अतः अपनी ओर से इतना और कहा—

"राजन् ! इनके हृदय में सरस्वती विराजमान रहती हैं। आजकल इन्होंने मौन धारण कर रखा है। इसलिए इन्होंने अनिवार्य होने के कारण संक्षिप्त आशीप ही दिया है। जब इनका मौन टूटेगा तो ये आपको चमत्कृत कर देंगे।"

राजा विक्रमादित्य ने बड़े हर्ष और उल्लास के साथ

राजकुमारी प्रियंगुमंजरी का विवाह विद्वान वने ग्वाले के साथ कर दिया और अपनी सफलता पर वेदगर्भ फूले नहीं समाये। उन्होंने राजजामाता ग्वाले को अच्छी तरह समझा दिया कि कुछ दिन तक तुम्हें पूर्णतः मौन ही रहना है।

'मेरे पति सरस्वती पुत्र हैं और एक उद्भट विद्वान हैं,' इस कल्पना से राजकुमारी का पैर धरती पर नहीं पड़ता था। अपने विद्वान पति से वाग्विलास करने के लिए राजकुमारी वहुत व्यग्र वनी हुई थी। लेकिन जव तक उनका मौन न टूटे, वह उनसे वोलती भी कैसे ?'

अवन्ती की प्रजा भी यह समझे हुए थी राजजामाता वहुत वड़े पण्डित हैं। राज्य में चर्चा थी—'पानी से भरे वादल गरजते नहीं हैं। आधा भरा घड़ा ही छलकता है। अर्द्ध-पण्डित ही ज्यादा गाल वजाते हैं। महापण्डित इसी तरह मौन रहते हैं।'

ग्वाले के मौन ने सर्वत्र उसकी धाक जमा दी थी। राजा-प्रजा और राजकुमारी उसे महापण्डित ही समझते थे। एक दिन राजकुमारी ने विचार किया—'मेरे पति न जाने कव तक मौन रहें ? यदि मैं उन्हें अपना लिखा ग्रन्थ दिखाऊँ तो वे उसे शुद्ध कर देंगे। उसमें वोलने की जरूरत ही क्या है।' यह सोच राजकुमारी ने स्वरचित ग्रन्थ अपने ग्वाले पति को संशोधनार्थ दिया। ग्वाले के

लिए तो काले अक्षर भैंस बराबर थे। अत: उसने लापरवाही से अपने नाखूनों से ग्रन्थ को जहाँ-तहाँ से खरोंच दिया। कुछ अक्षर बिगड़ गए और कहीं से पृष्ठ फट गए। इस तरह ग्रन्थ का रूप कुछ-का-कुछ हो गया। राजकुमारी ने बड़े चाव से ग्रन्थ खोला और उसे देखते ही सहमकर बैठ गई—'हे भगवान ! गुरु का शाप सत्य हो गया। मेरा पति तो सचमुच एक ग्वाला है।' अपनी शंका को पूर्णत पुष्ट करने के लिए राजकुमारी ग्वाले पति को चित्रशाला में ले गई। वहाँ भित्तियों पर अनेक आकर्षक चित्र बने हुए थे। वन, पर्वतों के मनोहारी दृश्य, युद्धों के चित्र और करुणा, वात्सल्य, शृंगार, वीर आदि रसों को साकार करने वाले चित्र भी थे। ग्वाला घूम-घूमकर चित्र देखने लगा। एक स्थान पर गायों का झुण्ड चर रहा था। एक ग्वाला लाठी लिये पेड़ की छाया में बैठा था। इस चित्र को देख ग्वाला अपने असली भाव में आ गया और 'डीउ डीउ' शब्द का उच्चारण करने लगा।

छिपी हुई राजकुमारी सब देख रही थी। उसने अपना सिर धुन लिया—

"इस मूर्ख चरवाहे के साथ मैं कभी नहीं रहूँगी। एक कौआ हंसिनी को कब तक धोखा देगा ?"

प्रत्यक्ष में उसने ग्वाले से कहा—

"मेरे घर से निकल जाओ। मैं तुम्हारा मुँह भी देखना नहीं चाहती।"

प्रियंगुमंजरी की फटकार से ग्वाले की आत्मा कराह उठी। उसने सोचा—'मेरा जीवन कैसा पंगु हो गया। न तो मैं ग्वाला ही रहा और न पण्डित ही वन पाया। पूरी अवन्ती जानती है कि मैं महापण्डित और सरस्वती पुत्र हूँ। मैं अव वही वनकर रहूँगा, जैसा लोग मुझे समझते हैं।' ऐसा निश्चय कर ग्वाला राजकुमारी के महल से निकल गया और अनजान दिशा की ओर वढ़ गया।

१२
गोपाल से कालिदास

अवन्ती नगरी से वाहर निकलने के वाद राजकुमारी प्रियंगुमंजरी के ग्वाले पति ने देखा कि राजोद्यान में महाकाली का एक भव्य मन्दिर वना हुआ है। ग्वाले ने सोचा, 'क्यों न मैं काली देवी की उपासना कर विद्या प्राप्त करूँ?' यह सोच ग्वाला काली देवी के मन्दिर में वैठकर वार-वार कहने लगा—"माँ काली! मुझे विद्या प्रदान करो। अवन्ती के लोग मुझे जैसा समझते हैं, वैसा ही वना दो।"

इसी तरह विना कुछ खाये-पीये ग्वाला अपनी प्रार्थना को दुहराता रहा। लेकिन काली देवी उस पर प्रसन्न नहीं हुई। ग्वाले का शरीर तीन ही दिन में वहुत क्षीण हो गया। इधर राजा विक्रमादित्य को जव यह पता लगा कि मेरा जामाता एक मूर्ख ग्वाला है और उसे मेरी पुत्री ने घर से निकाल दिया है तो वहुत चिन्तित हुए। 'कैसा भी हो, आखिरकार तो वह प्रियंगुमंजरी का पति ही है। अव तो उसका जीवन उसी के साथ कटेगा।' इस प्रकार

विचारकर राजा विक्रमादित्य ने चारों ओर अपने अन्वेषक दौड़ाये। बहुत जल्दी ही उन्हें सूचना मिली कि राज-जामाता महाकाली के मन्दिर में बैठे हुए हैं।

राजा विक्रमादित्य स्वयं महाकाली के मन्दिर में गए और ग्वाले द्वारा दुहराते हुए उसकी प्रार्थना को सुना तो उन्होंने भी पूर्ण आयोजन के साथ महाकाली की स्तुति की। लेकिन पत्थर का दिल नहीं पसीजा। काली ने ग्वाले की प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया। राजा ने विचार किया—'यदि इसी तरह मेरा जामाता बिना खाये-पीये यहाँ बैठा रहा तो बहुत जल्दी परलोक सिधार जायेगा। अकारण ही मेरी पुत्री विधवा हो जायेगी। इसलिए किसी युक्ति से काम लेना चाहिए।'

राजा विक्रमादित्य के रनिवास में काली नाम की एक दासी थी। राजा ने काली दासी को सिखा-पढ़ाकर महाकाली के मन्दिर में भेज दिया। काली दासी महा-काली की प्रतिमा के पीछे छिप गई और ग्वाले से इस प्रकार बोली—

"हे भक्त! मैं तेरी भक्ति से प्रसन्न हूँ। मैं तुझे वरदान देती हूँ, कि तू बहुत बड़ा विद्वान कवि बनेगा। तू वास्तव में सरस्वती पुत्र ही होगा।"

ग्वाले ने समझा, देवी ने प्रसन्न होकर मुझे वरदान दिया है, अतः बड़ी प्रसन्नता से उठा और सीधा राजसभा

की ओर चल दिया। अपना काम पूरा करके काली दासी भी चुपचाप रनिवास पहुँच गई। इधर महाकाली ने सोचा, 'यह तो बड़ा अनर्थ हो गया। दुनिया तो यही समझेगी कि महाकाली ने ग्वाले को विद्वान बनने का वरदान दिया है। अगर मैं इसे विद्या प्रदान नहीं करूँगी तो संसार से मेरा नाम ही उठ जायेगा। फिर मेरी पूजा-उपासना कौन करेगा? अतः अपनी बात रखने के लिए मुझे इसको विद्वान बनाना ही पड़ेगा।'

यह सोच महाकाली ने ग्वाले को अनेक विद्याएँ प्रदान कीं। ग्वाले के हृदय में अनेक प्रकार की काव्य स्फुरणाएं उठने लगीं। उसे अपने ऊपर विश्वास हो गया कि मैं विद्वान हूँ, सरस्वती पुत्र हूँ।

ग्वाला राजसभा में पहुँचा। उसका व्यंग्यात्मक स्वागत करते हुए राजा विक्रमादित्य ने विनोद में कहा—

"आइए, कालीदासी पुत्र!"

राजा का यह व्यंग्य वचन सुनकर ग्वाले ने कहा—

"राजन्! मैं कालीदासी पुत्र नहीं हूँ, बल्कि महाकाली का भक्त 'कालीदास' हूँ। काली माँ ने मुझे विद्याएँ प्रदान की हैं। मेरे अन्दर काव्य-रचना की प्रेरणाएँ उठ रही हैं। आज से मैं 'कालीदास' हूँ।"

ग्वाले का वचन सुनकर राजा विक्रमादित्य ने सोचा, 'यह मूर्ख अब भी भ्रम में है। इसे क्या पता कि यह ग्वाले

का ग्वाला ही है। एक मामूली काली दासी के वचनों को सत्य मानकर अपने को सरस्वती पुत्र समझ रहा है। मैं अभी इसका भ्रम दूर करता हूँ।

राजा विक्रमादित्य स्वयं देववाणी संस्कृत के विद्वान और काव्य-रचयिता थे। उन्होंने अपने जामाता कालिदास से कहा—

"अच्छा, मैं तुम्हें कालिदास ही मानता हूँ। यदि तुम्हें महाकाली ने विद्याएँ प्रदान की हैं तो मैं तुम्हें एक समस्या देता हूँ। उसकी पूर्ति करके दिखाओ। मेरी काव्य-समस्या है—

'वाहनोपरि तरंति समुद्राः'[1]

वाग्-विशारद कालिदास ने तुरन्त ही समस्या पूर्ति करते हुए निम्न श्लोक राजा विक्रमादित्य को सुनाया—

मेदनीधरशिरस्सु पयोदान् वर्षतो जलभृतश्चरतोऽलम्।
वीक्ष्य पंडितजना जगुरेवं वाहनोपरि तरन्ति समुद्राः॥

अर्थात् जल से परिपूर्ण मेघों को पहाड़ों पर बरसते देख पण्डितजन कहने लगे कि पहाड़ रूपी वाहनों पर समुद्र तैरते हैं।

इस समस्यापूर्ति से राजसभा में उपस्थित पण्डितजन दंग रह गये। राजा विक्रमादित्य भी दाँतों तले उँगली

---

१ वाहन के ऊपर समुद्र तैरते हैं।

दवा गए। उन्हें पूर्ण निश्चय हो गया कि मेरा जामाता कालीदास वस्तुतः सरस्वती पुत्र ही है।

राजकुमारी के कानों में भी समस्त वृत्तान्त पड़ा तो वह फूली नहीं समाई। आज के वरावर वह कभी खुश नहीं हुई। क्योंकि उसके पति ने अपनी विद्वत्ता से राज सभा के विद्वानों को आश्चर्य में डुवो दिया था।

कवि कालीदास अपनी प्रिया प्रियंगुमंजरी के महल में गये। राजपुत्री ने अपने पति का हर्षपूर्वक स्वागत किया और देववाणी में वोली—

"अस्ति कश्चिद् वाग्विलासो भवतो रुचिरः पते !"

अर्थात् हे पतिदेव ! क्या आप मुझसे वाणी विलास करना चाहते हैं ?

कवि कालीदास ने अपनी प्रिया प्रियंगुमंजरी को गूढ़ार्थ पूर्ण एक श्लोक तुरन्त बनाकर सुनाया—

"अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवात्मा, हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधावगाह्य स्थितः पृथिव्यां इव मानदण्डः॥"[1]

अर्थात् हे प्रिये ! भारत के उत्तर में पर्वतों का राजा हिमालय नाम का एक पर्वत है, जो [इतना विशाल है कि] पूर्व से पश्चिम तक फैला हुआ, समुद्र का स्पर्श करता है। उसे देखकर ऐसा लगता है, मानो यह पृथ्वी

१ कुमारसम्भव, प्रथम श्लोक।

को मापने के लिए मापदण्ड है और पृथ्वी को मापने के लिए ही इसे धरती पर लगाया गया है।

इस अपूर्व काव्य-श्लोक को सुनकर प्रियंगुमंजरी गद्-गद् हो गई। उसने कहा—

"स्वामी ! आप मुझे इसी तरह काव्य सुनाते रहें। मैं खाना-पीना सब कुछ छोड़कर आपके काव्य सुनती रहूँगी।"

प्रसन्न होकर कवि कालिदास ने कहा—

"प्रिये ! तुम्हीं ने मुझे कवि बनाया है। तुम्हारे लिए ही मैं काव्यों का सृजन करूँगा।"

"प्रिये ! तुमने मेरे आते ही मुझसे कहा था—'अस्ति कश्चिद् वाग्विलासो भवतो रुचिरः पते !' अतः मैं तुम्हारे इस कथन के प्रथम तीन शब्द—अस्ति, कश्चिद् और वाग्, पर तीन काव्यों की रचना करूँगा।"

कवि कालिदास की इस प्रतिज्ञा से प्रियंगुमंजरी बहुत प्रसन्न हुई। कुछ ही दिनों में कवि कालिदास ने 'अस्ति' शब्द पर 'मेघदूत', 'कश्चिद्' पर 'कुमारसम्भव' और 'वाग्' पर 'रघुवंश' जैसे महाकाव्य की रचना की। इन काव्यों के रचयिता कवि कालिदास महाकवि कालिदास कहलाये। बाद में उन्होंने और भी काव्य लिखे तथा 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' जैसे ललित नाटक की रचना की। अपने अमरकाव्यों से उन्होंने भारत में ही नहीं, विश्व में ख्याति प्राप्त की। अपने यशःशरीर से वे आज भी जीवित हैं। □

१३

विक्रमादित्य के नवरत्न

महाराज विक्रमादित्य स्वयं विद्वान थे और उनकी सभा में भी अनेक विषयों के विद्वान विराजते थे। ऐसे चुने हुए नौ विद्वानों का एक मण्डल 'नवरत्न' कहलाता . । महाकवि कालिदास भी उन नवरत्नों में से एक रत्न : । महाकवि कालिदास ने मालवनरेश राजा राजेन्द्र विक्रमादित्य के राज्य का वर्णन करते हुए लिखा है—

वन्यो हस्तिस्फटिक घटिते, भित्ति मार्गे स्व विम्बम्,
दृष्ट्वा दूरात्प्रतिगज इति त्वद्द्विपां मन्दिरेषु।
हत्वा कोपाद् गलितरदनस्तं पुनर्वीक्षमाणो,
मन्दं मन्दं स्पृशति करिणीशंकया साहसाङ्कः॥

अर्थात् [हे राजा विक्रमादित्य!] आपके शत्रुओं से रहित उनके स्फटिकमणि से निर्मित राजमहलों में [जन-शून्य होने के कारण] जंगल के हाथी उनमें प्रवेश कर जाते हैं और स्फटिक मणि-निर्मित भित्तियों में अपना प्रतिविम्ब देख प्रतिविम्ब को दूसरा हाथी समझ अपनी प्रतिच्छाया से भिड़ जाते हैं और भित्तियों से टकरा जाते

हैं। जव तक उनके बड़े-वड़े दाँत टूटकर नहीं गिर जाते, तव तक वे प्रतिबिम्वित हाथियों से टक्कर लेते रहते हैं। इसके वाद वे हाथी अपने दन्तहीन प्रतिविम्व को देखते हैं और दन्तहीन होने के कारण अपने प्रतिविम्व को हथिनी समझकर सूँड़ उठाकर अपना प्रेम प्रदर्शन करते हैं।

ऐसे विद्वान और ललित काव्य रचयिता और उनके आश्रयदाता महाराज विक्रमादित्य इस वसुन्धरा के मानव रत्न थे। उन रत्नों की आभा से यह धरा-गगन आज भी आलोकित है। भारवि का अर्थ-गौरव और कालिदास की उपमा आज भी एक लोकोक्ति वनी हुई है—'उपमा कालिदासस्य'।

□

१४

कालिदास सम्बन्धी अन्य कथाएँ

महाकवि कालिदास के जीवन चरित्र के विषय में कुछ विविधताएँ मिलती हैं। उनके विवाह सम्बन्धी इतिवृत्तों में भी थोड़ी-बहुत विविधता है, जो यहाँ द्रष्टव्य है: यथा—

उनकी पत्नी का नाम विद्योत्तमा था, जो तत्कालीन राजा शारदानन्द की पुत्री थी। विद्योत्तमा इतनी विदुषी थी कि दूर-दूर तक उसकी प्रसिद्धि फैली हुई थी। उसे अपनी विद्या का गर्व भी बहुत था। उसने प्रतिज्ञा की थी कि जो विद्वान मुझे शास्त्रार्थ में पराजित करेगा, उसी के साथ मैं अपना विवाह करूँगी। इस घोषणा को सुनकर दूर-दूर के पण्डित उससे शास्त्रार्थ करने आये और मुँह की खाकर लौटे। अपनी पराजय से पण्डितों को बड़ी ग्लानि हुई और सबने मिलकर विचार किया कि राजकुमारी विद्योत्तमा का विवाह एक मूर्ख से कराना चाहिए। ऐसा निश्चय कर पण्डित लोग किसी मूर्ख की तलाश में घूमने लगे।

एक लकड़हारा एक पेड़ पर चढ़कर लकड़ी काट रहा था। जिस डाल को वह काट रहा था उसी के अग्र भाग पर बैठा था। पण्डितों ने उसे देखा और विचार किया, इससे ज्यादा मूर्ख कहाँ मिलेगा? विद्योत्तमा का विवाह इसी के साथ करा दें तो उसका विद्या अहंकार चूर-चूर हो जायेगा और वह जीवनभर पछताती रहेगी।

पण्डितों ने मूर्ख को फुसलाया—

"तुम हमारे साथ चलो। हम तुम्हारा विवाह एक सुन्दर राजकुमारी से करवायेंगे।"

पण्डितों ने उस मूर्ख को सुन्दर कपड़े पहनाये और उसे सख्त हिदायत की राजकुमारी तुमसे कुछ भी पूछे—तुम मौन ही रहना। उसके प्रश्नों का उत्तर जो भी तुम्हें सूझे संकेतों में ही देना।

पण्डित लोग विद्वान वेश में मूर्ख को राजकुमारी विद्योत्तमा के पास ले गये और बोले—

"ये हमारे गुरुजी हैं। आज आपसे शास्त्रार्थ करेंगे। लेकिन आजकल आपने मौन व्रत धारण किया है, इसलिए आपके प्रश्नों का उत्तर संकेत में ही देंगे।"

राजकुमारी विद्योत्तमा सहमत हो गई और उसने अपनी तर्जनी उँगली उठाकर पहला संकेत प्रश्न किया।

मूर्ख ने समझा—यह मेरी एक आँख फोड़ना चाहती है। अगर यह मेरी एक आँख फोड़ेगी तो मैं इसकी दोनों आँखें फोड़ूँगा। यह सोच मूर्ख ने राजकुमारी की ओर दो उँगलियाँ उठाईं। पण्डितों ने तत्काल स्पष्टीकरण किया—

"आपने कहा है कि ईश्वर एक है और हमारे गुरुजी का कहना है कि ईश्वर की बनाई गई इस सृष्टि में ईश्वर और जीव दो हैं।"

राजकुमारी विद्योत्तमा संतुष्ट हुई और उसने दूसरे प्रश्न के रूप में अपना हाथ उठाया। मूर्ख ने सोचा—यह मुझे थप्पड़ मारना चाहती है। अगर यह मेरे थप्पड़ मारेगी तो मैं भी कम नहीं हूँ, मैं इसके घूँसा मारूँगा। अतः मूर्ख ने अपना मुक्का तानकर दिखाया। पण्डितों ने टिप्पणी दी—

"हमारे गुरुजी आपके प्रश्न का उत्तर देते हुए बता रहे हैं कि आपके हाथ की उँगलियों की तरह सृष्टि में पाँच तत्व हैं। पर वे पाँचों तत्व मेरे घूँसे की तरह जब मिलकर एक होते हैं, तभी सृष्टि बनती है।"

विद्योत्तमा ने अपनी हार स्वीकार की। मूर्ख और पण्डित राजकुमारी का विवाह हो गया। एक दिन मूर्ख ने ऊँट को देखकर संस्कृत भाषा में उष्ट्र न कहकर उपटर कहा तो उसका भेद खुला और राजकुमारी ने उसका

तिरस्कार किया । वाद में उसने काली देवी की उपासना की और प्रसिद्ध कवि वन गया ।

उनके विवाह सम्वन्धी कथा में जो भी अन्तर हो, पर इतना निश्चय है कि उनकी पत्नी पण्डिता थी और विवाह के समय वे अनपढ़ तथा मूर्ख थे । विवाह के वाद ही वे सरस्वती पुत्र और महाकवि वने ।



१५

जैसी नीयत वैसी बरकत

'जासु राज प्रिय प्रजा दुःखारी, सो नृप अवस नरक अधिकारी।' उक्ति के अनुसार राजा विक्रमादित्य प्रजा का सुख-दुःख जानने के लिए रात को वेश बदलकर घूमा करते थे। इसी तरह रात्रि को घूमते हुए एक बार वे एक किसान के खेत पर पहुँचे। रस से भरपूर गन्नों का खेत देखकर राजा के मन में रस पीने की इच्छा हुई। उसने खेत के रखवाले किसान से कहा—

"भाई! मैं परदेसी हूँ। मुझे बड़े जोर की प्यास लगी है।"

गुप्त वेशी राजा का कथन सुनकर किसान ने कहा—

"परदेसी! तुम राजा विक्रमादित्य के नगर की रीति नहीं जानते। इसीलिए पानी माँगते हो। हमारे यहाँ पानी माँगने पर गोरस—दूध-दही पीने को दिया जाता है। तुम मेरे अतिथि हो, इसलिए मैं तुम्हें पानी की जगह गन्ने का रस पिलाऊँगा।"

यह कहकर किसान एक गन्ना तोड़ लाया और राजा से कहा—

"तुम मुँह से अंजलि लगाओ। मैं गन्ने का रस निचोड़ता हूँ।"

एक ही गन्ने में इतना रस निकला कि राजा तृप्त हो गया। इसके बाद राजा महलों में आकर लेट रहा। लेटे-लेटे राजा ने विचार किया—'गन्ने में बहुत पैदावार है। गन्ने के खेत का मालिक मुझे बहुत थोड़ा कर देता है। मैं इसका कर बढ़ाऊँगा।'

विचार करते-करते राजा सो गया। दूसरे दिन की रात राजा वेश बदलकर उसी गन्ने के खेत पर पहुँचा और किसान से रस माँगा। किसान ने गन्ने को निचोड़ा। आज उसमें बहुत थोड़ा रस निकला। राजा को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने किसान से कहा—

"कोई दूसरा गन्ना तोड़कर लाओ। इसमें तो दो घूँट रस ही निकला है। कल एक ही गन्ने से मैं तृप्त हो गया था।"

किसान ने कहा—

"परदेसी भाई! आज तो सभी गन्नों में इतना ही रस निकलेगा, क्योंकि आज राजा की दृष्टि बदल गई है। कल उसकी दृष्टि शुभ थी और आज उसकी नीयत में खोट है।"

किसान की बात सुनकर राजा चुपचाप महलों को लौट आया और सो गया। सवेरे उठकर उसने महामन्त्री भट्टमात्र को सब घटना सुनाई। मन्त्री भट्टमात्र ने कहा—

"राजन्! अपनी शुभाशुभ भावना का असर दूसरों पर भी पड़ता है। जैसा आप दूसरों के विषय में सोचेंगे, वैसा ही दूसरे आपके बारे में सोचेंगे। आज हम दोनों वेश बदलकर वनभ्रमण को चलेंगे और शुभाशुभ भावना के प्रभाव का प्रयोग करके देखेंगे।"

राजा विक्रमादित्य और महामात्य भट्टमात्र वेश बदलकर क्षिप्रा नदी की ओर बढ़ गए और नदी के कछारों में बसे वन में विचरण करने लगे। उसी समय कुछ लकड़हारे लकड़ियों का गट्ठर सिर पर रखे आ रहे थे। उन्हें देख राजा ने भट्टमात्र से कहा—

"मन्त्रीश्वर! ये लकड़हारे तो इन जंगलों का सफाया करके छोड़ेंगे। मैं इन सबको बन्द करूँगा।" इतने में लकड़हारे राजा के निकट आ गए। उन सब लकड़हारों से मन्त्री भट्टमात्र ने कहा—

"लकड़हारो! क्या तुम्हें मालूम है कि आज राजा विक्रमादित्य मर गया। बड़ा अच्छा राजा था। उसके मरने से सम्पूर्ण उज्जयिनी में शोक छा गया है।"

"मन्त्री भट्टमात्र का कथन सुनकर सब लकड़हारों ने

अपने गट्ठर नीचे पटक दिये और खुशी से झूम-झूमकर नाचने लगे।"

भट्टमात्र ने इस खुशी का कारण पूछा तो एक लकड़हारा बोला—

"राजा के मरने से हमारे तो भाग्य जग गए। आज हमारी लकड़ियाँ ऊँचे दामों में बिकेंगी।"

लकड़हारों की बात सुनकर राजा मन्त्री—दोनों आगे बढ़ गए। मन्त्री ने राजा से कहा—

"राजन्! अशुभ विचार का फल आपने हाथों-हाथ देख लिया। आपने लकड़हारों के बारे में बुरा सोचा। वे सब भी आपकी मृत्यु की खबर पर नाच उठे।"

राजा-मन्त्री जब कुछ आगे बढ़े तो एक वृद्धा ग्वालिन दूध-दही के पात्र सिर पर रखे उन्हीं की ओर आ रही थी। ग्वालिन को देखकर राजा ने मन्त्री से कहा—

"मन्त्री! यह ग्वालिन कितनी वृद्ध है। दूध-दही बेचकर इसका गुजारा कैसे चलता होगा? मैं राज्य की ओर से सभी वृद्धा-अनाथ ग्वालिनों को दुधारू गायें भेंट करूँगा।"

जब वृद्धा ग्वालिन राजा के निकट आई तो मन्त्री भट्टमात्र ने उससे कहा—

"माँ! आज बहुत बुरा हुआ। बेचारा राजा विक्रमादित्य मर गया।"

मन्त्री के कहते ही बुढ़िया ने अपने गोरस पात्र पटक दिये और करुण-विलाप करने लगी। रोते-रोते वृद्धा ग्वालिन ने कहा—

"हे राजा विक्रम ! इतनी बूढ़ी मैं अभी तक जिन्दा हूँ और तू हमें छोड़कर चल बसा। मेरा बस चलता तो मैं अपनी उम्र तुझे दे देती और तुझे न मरने देती। ऐसा अच्छा राजा अब हमें कहाँ मिलेगा ?"

राजा बुढ़िया ग्वालिन को अपने साथ ले आया और उसे बहुत-सा धन देकर सन्तुष्ट किया। शुभाशुभ भावना का फल राजा देख चुका था।

इसके बाद राजा ने अपनी समस्त प्रजा को करों से मुक्त कर दिया और जनता के लिए राज्य की ओर से अनेक सुविधाएँ प्रदान कीं। इसके साथ ही राजा ने— (१) जुआ खेलना, (२) मांस-भक्षण, (३) मदिरापान, (४) आखेट, (५) वेश्यागमन, (६) चोरी, और (७) परस्त्रीगमन—इन सातों व्यसनों पर पूरी तरह से पाबन्दी लगा दी। अब तो राजा का यह नित्य क्रम बन गया कि वह वेश बदलकर रात को प्रजा के प्रत्येक कष्ट को जानने का प्रयत्न करता।

१६

विक्रम का आदर्श न्याय

उज्जयिनी में श्रीदत्त नाम का श्री-सम्पन्न और वैभवशाली श्रेष्ठी रहता था। श्रीदत्त की सेठानी का नाम था, पद्मा। वरदत्त नाम का एक अन्य श्रेष्ठी श्रीदत्त का अनन्य मित्र था। दोनों की दाँत-काटी दोस्ती उज्जयिनी में प्रसिद्ध थी। दोनों का घर दूर था फिर भी जब तक दिन में एकबार मिल न लेते थे, दोनों को चैन नहीं पड़ता था। कभी श्रीदत्त श्रेष्ठी वरदत्त की हवेली पहुँच जाता और कभी श्रीदत्त के घर पर वरदत्त की बैठक जमती।

आज वरदत्त कुछ उदास था, क्योंकि श्रेष्ठी श्रीदत्त कुछ दिनों के लिए सेठानी पद्मा के साथ तीर्थयात्रा के लिए जा रहा था। जब प्रेम अपने पूर्ण परिपाक पर हो तो कुछ क्षणों का वियोग भी युगों का-सा लम्बा लगता है। अनमने भाव से श्रेष्ठी वरदत्त ने श्रीदत्त से पूछा—

"मित्र श्रीदत्त! तीर्थयात्रा पर जाने की ऐसी क्या धुन सवार हुई कि अचानक ही तैयारी कर डाली। अगर

कुछ दिन ठहरते तो मैं भी सपत्नीक तुम्हारे साथ ही चलता।"

श्रीदत्त ने वताया—

"वरदत्त ! तुम उदास क्यों होते हो ? मैं जल्दी ही लौट आऊँगा। मेरे अकस्मात् जाने का कारण है, तुम्हारी भाभी पद्मा का दोहद। वे गर्भवती हैं। उनकी इच्छा तीर्थयात्रा की हुई है, इसीलिए उन्हें लेकर जा रहा हूँ।"

इस संवाद से श्रेष्ठी वरदत्त की उदासी प्रसन्नता में वदल गई। हर्षित होकर वोला—

"मित्र ! विधाता का मिलाया यह कैसा संयोग है कि मेरी पत्नी भी गर्भवती है। वड़ा अच्छा अवसर है कि हम दोनों इस संयोग का लाभ उठाकर अपनी मित्रता को अक्षुण्ण वना लें।"

"तो तुम भी अपनी पत्नी को लेकर मेरे साथ यात्रा पर चलोगे ?" श्रीदत्त ने पूछा।

"नहीं भाई ! मैं कुछ और ही कहना चाहता हूँ।" वरदत्त वोला- -

"तुम्हारी पत्नी भी गर्भवती है और मेरी भी। आज हम दोनों संकल्प करते हैं कि अगर हम दोनों के भिन्न लिंगी सन्तानें हुईं तो हम दोनों अपनी सन्तानों को विवाह-सूत्र में वाँधकर अपनी मित्रता का आदर्श उज्जयिनी में ही नहीं, विश्व की भावी पीढ़ी के सामने रखेंगे।"

श्रीदत्त मुस्कराया—

"वरदत्त ! हमारी यह प्रतिज्ञा एक विडम्बना वनकर भी रह सकती है।"

"सो कैसे ?" वरदत्त ने आश्चर्य के साथ पूछा।

श्रीदत्त बोला—

"अगर मेरे लड़का हुआ और तुम्हारे भी लड़का हुआ या फिर दोनों के लड़कियाँ हुईं, तब फिर इस प्रतिज्ञा का क्या अर्थ होगा ?"

वरदत्त ने एक ठहाका लगाया और फिर बोला—

"श्रीदत्त ! हमारी इस प्रतिज्ञा का अर्थ दैव अथवा भाग्य को चुनौती देना कदापि नहीं है। दैव तो सभी मनसूवों को मिट्टी में मिला देता है। यदि दैव अनुकूल हुआ तो भिन्नलिंगी सन्तानें होने पर अर्थात् तुम्हारे लड़का, मेरे लड़की अथवा मेरे लड़का, तुम्हारे लड़की होने पर हम दोनों परस्पर उनका विवाह करेंगे।"

श्रीदत्त ने वरदत्त को वक्ष में भर लिया—

"मित्र वरदत्त ! तुम्हारे सदाशय की मैं प्रशंसा करता हूँ। तुम्हारे आदरणीय विचारों का अनुमोदन करते हुए मैं आज प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं अपनी सन्तान को तुम्हारी भावी सन्तान के साथ विवाह-वन्धन में वाँधकर अपनी मित्रता का परिवर्द्धन और प्रसार करूँगा।"

वरदत्त हर्षित हुआ और श्रीदत्त से बोला—

"मित्र श्रीदत्त ! ऐसा भी सम्भव है कि सन्तानों के विवाह योग्य होने से पहले हममें से कोई चल वसे। इसलिए अच्छा यही रहेगा कि यह प्रेमप्रतिज्ञा लिपिवद्ध होकर हमारे घरों में सुरक्षित रहे और हमारे वाद भी हमारी प्रतिज्ञा पूरी हो जाय।"

दोनों ओर से लिखा-पढ़ी हो गई। श्रेष्ठी द्वय—श्रीदत्त और वरदत्त ने अपने हस्ताक्षरों से युक्त एक-एक प्रतिलिपि अपने पास रख ली। श्रीदत्त को यात्रा के लिए विदा कर वरदत्त अपने घर चला गया। सेठानी पद्मा के रथ में आकर श्रीदत्त बैठा और विवाह का प्रतिज्ञापत्र सेठानी को दिखाया। प्रतिज्ञापत्र पढ़कर सेठानी पद्मा ने लज्जा से आँखें झुकालीं और पत्र कंचुकी में सम्हाल कर रख लिया। सेठ श्रीदत्त ने पूछा—

"क्या विवाह सम्वन्ध पसन्द नहीं आया ?"....

पदमा ने मुस्कराकर आँखें झुकाये हुए ही कहा—

"स्वामी ! पसन्द करने वाला जीव अभी वहुत दूर है। उसकी वात मैं क्या वताऊँ ?"

सेठ ने विनोद में कहा—

"तो फिर अपनी पसन्द ही वताओ।"

"मुझे तो आप पसन्द आये थे।" कहकर सेठानी चुप हो गई। रथ आगे वढ़ता रहा।

सवा नौ महीने वाद सेठानी पद्मा ने एक पुत्र को जन्म दिया। पुत्र-जन्म का शुभ संवाद श्रेष्ठी श्रीदत्त ने श्रेष्ठी वरदत्त के यहाँ भेजा। श्रेष्ठी वरदत्त की पत्नी आसन्न प्रसवा थी। वरदत्त मन-ही-मन अपने इष्ट को मना रहा था— 'मेरे मित्र श्रीदत्त के तो पुत्र हुआ है। यदि मेरी पत्नी के पुत्री हो तो हम दोनों की मैत्री का परिवर्द्धन हो।'

श्रेष्ठी श्रीदत्त ने धूमधाम से पुत्र का जन्मोत्सव मनाया और पुत्र का नाम रखा सुनन्दन। वरदत्त वधाई देने आया। श्रीदत्त ने मजाक में कहा—

"भाई वरदत्त ! तुम्हारी पत्नी के अभी प्रसव नहीं हुआ ? मुझे तो वहुत जल्दी हो रही है।"

वरदत्त वोला—

"तो क्या पालने में ही विवाह करना चाहते हो ? वस नौ महीने पूरे होने में कुछ ही दिनों की कसर है ? भगवान ने चाहा तो कन्या ही होगी।"

कुछ काल वाद वरदत्त की पत्नी ने एक कन्या को जन्म दिया। कन्या-जन्म से जितनी प्रसन्नता श्रीदत्त को हुई उतनी ही वरदत्त को भी हुई। वरदत्त के पास अपार सम्पत्ति थी। पुत्र की तरह उसने वड़ी धूमधाम से पुत्री का जन्मोत्सव मनाया। वरदत्त की पुत्री गर्भकाल में ही श्रीदत्त पुत्र सुनन्दन की वाग्दत्ता हो चुकी थी, इसलिए

नाम की सार्थकता के विचार से वरदत्त ने पुत्री का नाम रखा वाग्दत्ता। वाग्दत्ता और सुनन्दन अपने-अपने घर धीरे-धीरे वृद्धि को प्राप्त होने लगे। भविष्य में दोनों पति-पत्नी बनेंगे, इसका रहस्य दोनों के माता-पिता ही जानते थे, यह रहस्य उन्हीं तक सीमित था।

× × ×

"मानव के मन कछु और है, कर्ता के कछु और।" मनुष्य एक सुनिश्चित योजना और विधान बनाकर चलता है और भाग्य उसकी योजना के भवनों को क्षणभर में मिट्टी के ढेले की तरह बिखेर देता है। दैव की गति कोई नहीं जान पाया। श्रेष्ठी श्रीदत्त असमय में ही चल बसे। सेठानी पद्मा विधवा हो गई और सुनन्दन अनाथ। पिता श्रीदत्त का छोड़ा हुआ अपार धन सुनन्दन के अधिकार में था। लेकिन जिस निष्ठुर दैव ने उसे अनाथ बनाया, उसी क्रूर दैव ने उसे अत्यन्त निर्धन भी बना दिया। दैव लीला के लिए कोई न कोई बहाना अवश्य चाहिए। सुनन्दन की निर्धनता का बहाना बने उसके मुनीम और नौकर। श्रीदत्त के समय में यही मुनीम आदि स्वामिभक्त थे। लेकिन जब दैव का चक्र चला तो मुनीम और सेवकों का मन भी बदल गया। वे सब धन का सफाया कर गये।

सेठानी पद्मा ने परिस्थितियों से मुँह नहीं मोड़ा और अपने लाड़ले सुनन्दन को यत्न से पढ़ाने लगी। जब भाग्य

रूठता है तो अपने भी पराये हो जाते हैं। कुछ दिन तक तो वरदत्त ने स्वर्गीय श्रीदत्त की मित्रता का नाता निभाया। लेकिन अब उसने भी श्रीदत्त की विधवा पत्नी पद्मा के कुशल-समाचार लेना छोड़ दिया। समय अपनी गति से चलता रहा।

वरदत्त की पुत्री वाग्दत्ता विवाह योग्य हो गई। एक दिन श्रेष्ठी वरदत्त ने बड़ी प्रसन्नता के साथ यह लिखा-पढ़ी की थी कि मैं अपनी गर्भस्थ सन्तान का विवाह मित्र श्रीदत्त की गर्भस्थ सन्तान के साथ करूँगा। लेकिन आज वही प्रसन्नता गहरे विषाद में बदली हुई थी। गरम दूध न तो पिया ही जा सकता है और न उसे उगला ही जा सकता है। यही दशा श्रेष्ठी वरदत्त की थी। प्रतिज्ञा के अनुसार वह स्वर्गीय श्रीदत्त के पुत्र सुनन्दन से अपनी पुत्री का विवाह करने को बाध्य था, पर निर्धन सुनन्दन को अपनी कन्या कैसे दे? वाग्दत्ता का विवाह एक ऐसी समस्या थी, जिसका समाधान वरदत्त प्रतिज्ञा भंग करके भी नहीं कर सकता था। श्रेष्ठी वरदत्त को वचनभंग के पाप का कोई डर नहीं था। कन्या के सुख के लिए वह अपनी लिखित प्रतिज्ञा को भी ताक पर रख सकता था। उज्जयिनी में अनेक कोटीश्वर श्रेष्ठी निवास करते थे। वरदत्त किसी भी श्रेष्ठी कुमार के साथ अपनी पुत्री वाग्दत्ता का विवाह कर सकता था। लेकिन उसे एक ऐसा डर था, जिससे बचना मुश्किल ही नहीं, असम्भव था।

वह डर था राजा विक्रमादित्य का। राजा विक्रमादित्य न्यायप्रिय शासक थे। उनके राज्य में अन्याय शब्द केवल किताबों में देखने को ही मिल सकता था।

श्रेष्ठी वरदत्त सोच रहा था—'अगर मैं अपनी प्रतिज्ञा भंग करके अपनी पुत्री का विवाह सुनन्दन के साथ न करके किसी अन्य धनी श्रेष्ठीकुमार के साथ कर दूं, तो प्रतिज्ञा भंग के पाप के कारण नरक मिलेगा। लेकिन पुत्री तो सुखी रहेगी।····लेकिन राजा विक्रमादित्य का न्याय तो कुछ और ही कर डालेगा। अगर सुनन्दन ने राजा से शिकायत कर दी तो विवश होकर मुझे अपनी पुत्री का विवाह निर्धन सुनन्दन के साथ करना ही पड़ेगा और दण्ड का भागी हूँगा, सो अलग। सेठानी पद्मा के पास मेरे हाथ का लिखा प्रतिज्ञापत्र अवश्य होगा····।'

वरदत्त को एक युक्ति सूझ गई—'उज्जयिनी में विवाह के लिए जाति-पाँति का वन्धन तो है ही नहीं। सामान्य परिस्थितियों में तो ब्राह्मण पुत्र का विवाह ब्राह्मण पुत्री के साथ और वैश्य का वैश्य के घर में होता है। लेकिन विशेष परिस्थितियों में अन्तरजातीय विवाह भी होता है। अतः क्यों न मैं अपनी पुत्री का विवाह राजा विक्रमादित्य के साथ ही कर दूँ। सव समस्याएँ विना सुलझाये, अपने आप ही सुलझ जायेंगी। मेरी पुत्री विक्रमादित्य की रानी वन जायेगी, राजा अपनी रानी के विरुद्ध कोई

शिकायत नहीं सुनेगा। अपनी-पराई बात ही और है। अपने दोषों को कौन नहीं ढँकता ?

काफी सोच-विचार के बाद श्रेष्ठी वरदत्त ने अपनी पुत्री वाग्दत्ता का विवाह राजा विक्रमादित्य के साथ करने का निश्चय कर लिया। इस निश्चय से उसे दुहरी प्रसन्नता थी—लिखित प्रतिज्ञापत्र के खण्डन से मुक्ति और पुत्री का जीवन सुखी होने का सुख। सेठ वरदत्त श्रीफल और पूगीफल (नारियल और सुपाड़ी) लेकर राजा विक्रमादित्य के पास पहुँचा और श्रीफल-पूगीफल भेंट करने के अनन्तर कहा—

"प्रजारक्षक ! विद्या और कलाओं में विदुषी सर्वांग सुन्दरी मैं अपनी कन्या वाग्दत्ता का पाणिग्रहण आपके साथ करना चाहता हूँ। उसे अपने अन्तःपुर में स्थान दीजिए।"

राजा के अन्तःपुर में अनेक रानियाँ उसी तरह आकर मिली थीं, जैसे समुद्र में नदियाँ मिलती हैं। राजा विक्रमादित्य ने वरदत्त का विवाह-प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। श्रेष्ठिकन्या वाग्दत्ता दुलहिन के रूप में सजने लगी और राजा के विवाह की खुशी में उज्जयिनी भी नववधू-सी सज गई। हर घर पर सुदर्शन वन्दनवारें शोभित थीं। राजमार्गों की शोभा अनुपम और दर्शनीय थी।

यथासमय वरवेश में राजा की सवारी वरदत्त के भवन की ओर जाने लगी। स्वर्णमण्डित अम्वारी प राजा विक्रमादित्य गजारूढ़ थे। आगे-पीछे अश्वारो अंगरक्षक चल रहे थे। राजमार्ग के दोनों ओर खड़े न नारी तुमुल ध्वनि के साथ पुष्प-वर्षा कर रहे थे। छ पर बैठी नारियाँ ऊपर से अक्षत-रोली और फूल बिखे रही थीं।

स्वर्गीय श्रेष्ठी श्रीदत्त की विधवा पत्नी पद्मावत की आँखें गीली थीं। चाहकर और प्रयास करने पर भ वह अपने आँसू नहीं रोक पा रही थी। वाहर से दौड़ता हुआ सुनन्दन माँ के पास आया और सेठानी पद्मा बोला—

"माँ चलो! ऊपर चलकर देखो राजा की वारात आ रही है। आज तो ऐसा लगता है, जैसे उज्जयिनी के ह घर में विवाह हो। चलो ऊपर छत से हम राजा की वारात देखेंगे।"

"जा वेटा, तू ही वारात देख। मेरी तबीयत ठीक नहीं है।"

सुनन्दन ने माँ के अश्रुपूरित मुख को देखा—

"माँ! तू रो क्यों रही है? क्या राजा के विवाह से तू खुश नहीं?"

"कुछ नहीं, वैसे ही आँसू आ गये थे।" पद्मा ने कारण छिपाने के विचार से कहा।

"नहीं माँ! वैसे ही आँसू कैसे आ सकते हैं? कोई-न-कोई बात है, तू छिपाना चाहती है।"

"बेटा!" कुछ रुककर सेठानी बोली—

"कारण बताने से मेरा दुःख दूर नहीं होगा, बल्कि यह दुःख तुझ पर भी छा जायेगा, इसलिए रहने दे। कारण पूछकर क्या करेगा?"

सुनन्दन ने हठ ही नहीं किया, माँ को अपनी कसम भी खिलाई। सेठानी पद्मा को बताना पड़ा—

"बेटा! वरदत्त श्रेष्ठी की पुत्री तेरी वाग्दत्ता है। इसका वाग्दत्ता नाम इसीलिए पड़ा था कि इसके पिता वरदत्त गर्भकाल में ही इसकी सगाई तेरे साथ कर चुके थे। तेरे पिता और श्रेष्ठी वरदत्त घनिष्ठ मित्र थे। दोनों में लिखा-पढ़ी हुई थी कि दोनों अपनी भिन्न-लिंगी संतानों का विवाह एक-दूसरे के साथ करेंगे।"

"पुत्र! तेरे पिता की मृत्यु के बाद हम निर्धन हो गए। इसलिए वरदत्त अपनी पुत्री का विवाह राजा के साथ कर रहे हैं। अगर किसी और श्रेष्ठिपुत्र के साथ वे अपनी कन्या का विवाह करते तो मैं शिकायत लेकर राजा वीर विक्रमादित्य के पास जाती, पर अब राजा की शिकायत राजा से कौन करे? वाग्दत्ता तेरी माँग थी—

वह मेरी पुत्रवधू बनती, पर दैव की इच्छा को कौन टाल सकता है ? इसीलिए मेरे आँसू आ गए थे। जा, तू जाकर बारात देख।"

सुनन्दन ने कहा—

"माँ ! मेरे पिता और श्रेष्ठी वरदत्त के बीच जो समझौता हुआ था, उसे मैं भी देखूँगा। दिखा तो सही, उसमें क्या लिखा है।"

सेठानी पद्मा ने प्रतिज्ञापत्र सुनन्दन को दे दिया। सुनन्दन उसे लेकर भाग गया। सेठानी पद्मा रोकती ही रह गई।

× × ×

"राजा विक्रमादित्य ! हाथी रोको। मैं न्याय की पुकार करने आया हूँ।"

अंगरक्षकों ने सुनन्दन को पकड़ लिया और फटकारा—

"मूर्ख लड़के ! देखता नहीं ? राजा वरवेश में जा रहे हैं। पुकार करने का भी कोई समय होता है। कभी राजसभा में आना।"

राजा विक्रमादित्य ने हाथी रुकवाया और अपने अंगरक्षकों से बोले—

"प्रजा के कष्टों को सुनने से अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य मेरे लिए कोई नहीं। मैं अभी, इसी समय इस कुमार की

बात सुनूँगा। देर करने पर तो न्याय स्वयं एक अन्याय हो जाता है।

"इसी समय राजमार्ग से हटकर न्याय-सभा की स्थापना करो। मैं न्याय करके ही विवाह-मण्डप में जाऊँगा।"

अंगरक्षकों ने सिर झुका लिया। सुनन्दन ने राजा के पास आकर कहा—

"प्रजापालक! मेरे न्याय के लिए न्याय-सभा की आवश्यकता नहीं। मैं अकेले में ही आपसे कुछ कहना चाहता हूँ।"

"अच्छा आओ!" राजा के इतना कहते ही चतुर महावत ने हाथी बैठाया और सुनन्दन राजा के पास बैठ गया। बारात पूर्ववत् आगे बढ़ने लगी। सुनन्दन ने श्रेष्ठी वरदत्त का लिखा प्रतिज्ञापत्र राजा के हाथों में दे दिया। राजा ने प्रतिज्ञापत्र पढ़ा और पढ़ते-पढ़ते ही पूछा—

"तो श्रेष्ठिकन्या वाग्दत्ता तुम्हारी माँग है?"

"जी!" सुनन्दन ने संक्षेप में कहा।

"यह बात तुमने पहले क्यों नहीं बताई?"

"मैं स्वयं अनजान था।"

"फिर भी तुमने समय से पहले बता दिया, यह अच्छा किया।" राजा ने पूछा—

"सुनन्दन ! तुम्हारी दृष्टि में न्याय क्या है ? क्या यही कि वाग्दत्ता की शादी तुम्हारे साथ कर दी जाए ?"

"मैं तो यही समझता हूँ।" सुनन्दन ने कहा—

राजा विक्रमादित्य ने कहा।

"लेकिन सुनन्दन ! राजा विक्रमादित्य के न्याय इतिहास में यह न्याय लँगड़ा न्याय होगा। श्रेष्ठी वरदत्त का पक्ष भी विचारणीय है। सच्चा न्याय तो वही है जिसमें दोनों पक्ष सन्तुष्ट रहें।"

"सुनन्दन ! तुम्हारे साथ वाग्दत्ता का विवाह कर देने से श्रेष्ठी वरदत्त असन्तुष्ट रहेगा और न कर देने से तुम असन्तुष्ट होगे और मेरे न्याय-निर्णय में एक कलंक का टीका लग जायेगा।"

"तुम निर्धन हो। तुम्हारे पिता नहीं हैं। इसीलिए वरदत्त अपनी कन्या का विवाह तुम्हारे साथ करना नहीं चाहता। हर पिता अपनी कन्या को समृद्ध घर में देना चाहता है। इस विवाह से वरदत्त भी दोषी नहीं है।"

"तो फिर ?" सुनन्दन इतना ही कह पाया।

राजा ने कहा—

"अब तुम मेरे निर्णय के बाद ही जानोगे।"

यह कहते-कहते राजा ने अपना वरवेश धीरे-धीरे उतार डाला। राजमुकुट सिर पर रहने दिया और व

मुकुट सुनन्दन के सिर पर रख दिया। कण्ठ की पुष्प-मालाएँ भी सुनन्दन के गले में डाल दीं। दक्षिण हाथ में बँधा कंगन खोलकर सुनन्दन के हाथ में बाँध दिया।

सुनन्दन चकित था। राजा ने कहा—

"सुनन्दन ! न्याय का एक पक्ष पूरा हो गया अब दूसरा पक्ष विवाह-मण्डप में पूरा होगा।"

बारात वरदत्त के भवन तक पहुँच गई थी। श्रेष्ठी वरदत्त ने सुनन्दन को राजा के पास वरवेश में बैठे देखा। वरदत्त के पैरों के नीचे की जमीन खिसकने लगी। क्षण-भर के लिए तो उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं आया।

विवाह-मण्डप न्याय-सभा के रूप में परिणत हो गया। राजा विक्रमादित्य ने वरदत्त का लिखा वचनपत्र उसे दिखाया। वरदत्त ने शर्म से आँखें नीचे झुका लीं। राजा ने निर्णय दिया—

"श्रेष्ठिवर ! तुम्हारे मन का दर्द मैं समझता हूँ। पुत्री की भविष्य-चिन्ता के कारण तुमने निर्धन सुनन्दन के साथ अपनी कन्या का विवाह करना नहीं चाहा। लेकिन विवाह धन का नहीं, मन का सौदा है, यह तुम भूल ही गए। वाग्दत्ता का एकमात्र अधिकारी सुनन्दन ही है।"

"वरदत्त ! तुम सोचते हो कि सुनन्दन के पिता नहीं

है और वह निर्धन है। यह तुम्हारी भूल है। राजा विक्रमादित्य सुनन्दन का पिता है और अतुल ऐश्वर्य का स्वामी सुनन्दन अपने पिता को लेकर तुम्हारी कन्या की माँग भरने आया है। मैं राजा विक्रमादित्य अपने पुत्र सुनन्दन की बारात लेकर उसे व्याहने आया हूँ।"

सब की आँखों में आनन्द के आँसू थे। दोनों पक्षों को सन्तुष्ट करने वाले इस न्याय को देखकर सभी चकित और हर्षित थे। धूमधाम के साथ श्रीदत्त पुत्र सुनन्दन और वरदत्त पुत्री वाग्दत्ता का विवाह सम्पन्न हो गया। राजा विक्रमादित्य ने अपार धन और महल सुनन्दन को देकर उसकी निर्धनता को दूर किया।

इस विवाह के अनन्तर राजा विक्रमादित्य ने अपने राज्य में घोषणा कराई—

"आज से मालव में सजातीय विवाह ही होंगे। अन्तर्जातीय विवाह अमान्य माने जायेंगे। हर व्यक्ति अपनी जाति में ही विवाह-सम्बन्ध करेगा।"

तभी से सजातीय विवाह की परम्परा चल पड़ी और अन्तरजातीय विवाह की प्रथा समाप्त हो गई।

१७

देशाटन के नये अनुभव

यह विश्व एक खुली पुस्तक के समान है। विश्वभ्रमण करने से ही अनुभव और ज्ञान प्राप्त होता है। एक स्थान पर चिपके रहने वाले विद्वान का ज्ञान पंगु वन जाता है। देशाटन में वड़े-वड़े विचित्र व्यक्तियों से सम्पर्क होता है, जो घर बैठे असम्भव है। इन सब वातों पर विचार कर महाराज विक्रमादित्य ने देशाटन का निश्चय किया। अतः शासनभार अपने योग्य मन्त्रियों और युवराज विक्रमचरित्र को सौंपकर शुभमुहूर्त में देशाटन के लिए अवन्ती से प्रस्थान कर दिया। मार्ग व्यय के लिए पर्याप्त द्रव्य और वहुमूल्य पाँच रत्न भी ले लिये।

वन, पर्वत और विविध प्रकार के प्राकृतिक दृश्यों का अवलोकन करते हुए तथा अनेक सुन्दर नगरों में घूमते हुए राजा विक्रमादित्य 'पद्मपुर' नामक नगर में पहुँचे। यह नगर अपने नाम के अनुरूप पद्म की तरह रम्य और सुन्दर था। नगर की वास्तुशोभा और प्राकृतिक सुषमा देखते ही वनती थी। इतना सव होते हुए भी इस नगर में

प्रवंचना, ठगी और अन्याय का ही वोलवाला था। यहाँ का राजा इतना अन्यायी और प्रजापीड़क था कि उसका वास्तविक नाम लोग भूल ही गये थे, और उसे अन्यायी राजा कहते थे। पद्मपुर के मन्त्री का नाम भी उसके गुण-स्वभाव के अनुसार सर्वभक्षी और पाषाण हृदय ही प्रसिद्ध था। नगर की जनता और आस-पास के लोग उन्हें अन्यायी राजा और सर्वभक्षी मन्त्री के नाम से ही वोलते-जानते थे। 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार यहाँ ठगों और वंचकों की भी भरमार थी। कोई भी भूला-भटका परदेसी यहाँ से लुटकर रोता-कलपता वापस होता था।

पद्मपुर नगर की इस वास्तविक स्थिति के बारे में राजा विक्रमादित्य को कोई जानकारी नहीं थी। वे सरल भाव से इस नगर में घूम रहे थे। घूमते-घूमते उन्होंने एक दुकान पर बैठकर जलपान किया और कुछ देर वहीं बैठे रहे। उसी समय एक तापस दुकानदार से एक सेर घी लेने आया। दुकानदार ने अपनी उदारता और निस्पृहता का परिचय देते हुए राजा विक्रमादित्य के सामने उस तापस को दो सेर घी दिया। तापस हँसी-खुशी दूना घी लेकर अपने गुरु के पास पहुँचा। जब तापस घी लेकर दुकानदार के पास से चला गया तो राजा विक्रमादित्य ने दुकानदार से पूछा—

"इस तरह दूना माल देने से आपकी दुकानदारी कैसे

चलती है ? कम लाभ लेना और ठीक तौलना तो वणिक् धर्म है, पर गाँठ से देना तो मूर्खता है।"

राजा के इस कथन का उत्तर देते हुए दुकानदार ने कहा—

"हे परदेसी ! मेरा स्वभाव ही ऐसा है कि मुझे धन संग्रह की कतई इच्छा नहीं है। अब तक की दुकानदारी में मैंने तो यही अनुभव किया है कि दान देने से मुझे हमेशा लाभ ही रहता है और फिर साधुओं को अधिक देने से तो कभी घाटा नहीं होता।"

दुकानदार की धर्मनिष्ठा से राजा विक्रमादित्य बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने सोचा—'ऐसा धर्मनिष्ठ और निस्पृह व्यक्ति मुझे कहाँ मिलेगा ? मैं अपने पाँचों रत्नों की धरोहर इसी के पास रख दूँ तो निश्चिन्त होकर भ्रमण करूँ। राजा यह विचार कर ही रहे थे कि घी खरीदने वाला तापस पुनः दुकानदार के पास आया और एक सेर घी वापस करते हुए बोला—

"सेठजी ! आपने एक सेर घी का मूल्य लेकर मुझे जो दो सेर घी दिया है, इससे मेरे गुरुजी बहुत रुष्ट हुए हैं। उन्होंने कहा है कि इस तरह दूना माल लेना तो सरासर चोरी है और चोरी का परिणाम—

"चौर्यपापद्रुमस्य वधबन्धादिकं फलम्" अर्थात् चोरी रूपी पाप वृक्ष का फल वध और बन्धन (कारावास)

प्रवंचना, ठगी और अन्याय का ही बोलवाला था। यहाँ का राजा इतना अन्यायी और प्रजापीड़क था कि उसका वास्तविक नाम लोग भूल ही गये थे, और उसे अन्यायी राजा कहते थे। पद्मपुर के मन्त्री का नाम भी उसके गुण-स्वभाव के अनुसार सर्वभक्षी और पाषाण हृदय ही प्रसिद्ध था। नगर की जनता और आस-पास के लोग उन्हें अन्यायी राजा और सर्वभक्षी मन्त्री के नाम से ही बोलते-जानते थे। 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार यहाँ ठगों और वंचकों की भी भरमार थी। कोई भी भूला-भटका परदेसी यहाँ से लुटकर रोता-कलपता वापस होता था।

पद्मपुर नगर की इस वास्तविक स्थिति के बारे में राजा विक्रमादित्य को कोई जानकारी नहीं थी। वे सरल भाव से इस नगर में घूम रहे थे। घूमते-घूमते उन्होंने एक दुकान पर बैठकर जलपान किया और कुछ देर वहीं बैठे रहे। उसी समय एक तापस दुकानदार से एक सेर घी लेने आया। दुकानदार ने अपनी उदारता और निस्पृहता का परिचय देते हुए राजा विक्रमादित्य के सामने उस तापस को दो सेर घी दिया। तापस हँसी-खुशी दूना घी लेकर अपने गुरु के पास पहुँचा। जब तापस घी लेकर दुकानदार के पास से चला गया तो राजा विक्रमादित्य ने दुकानदार से पूछा—

"इस तरह दूना माल देने से आपकी दुकानदारी कैसे

चलती है ? कम लाभ लेना और ठीक तौलना तो वणिक् धर्म है, पर गाँठ से देना तो मूर्खता है।"

राजा के इस क़थन का उत्तर देते हुए दुकानदार ने कहा—

"हे परदेसी ! मेरा स्वभाव ही ऐसा है कि मुझे धन संग्रह की कतई इच्छा नहीं है। अब तक की दुकानदारी में मैंने तो यही अनुभव किया है कि दान देने से मुझे हमेशा लाभ ही रहता है और फिर साधुओं को अधिक देने से तो कभी घाटा नहीं होता।"

दुकानदार की धर्मनिष्ठा से राजा विक्रमादित्य बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने सोचा—'ऐसा धर्मनिष्ठ और निस्पृह व्यक्ति मुझे कहाँ मिलेगा ? मैं अपने पाँचों रत्नों की धरोहर इसी के पास रख दूँ तो निश्चिन्त होकर भ्रमण करूँ। राजा यह विचार कर ही रहे थे कि घी ख़रीदने वाला तापस पुनः दुकानदार के पास आया और एक सेर घी वापस करते हुए बोला—

"सेठजी ! आपने एक सेर घी का मूल्य लेकर मुझे जो दो सेर घी दिया है, इससे मेरे गुरुजी बहुत रुष्ट हुए हैं। उन्होंने कहा है कि इस तरह दूना माल लेना तो सरासर चोरी है और चोरी का परिणाम—

"चौर्यपापद्रुमस्य वधबन्धादिकं फलम्" अर्थात् चोरी रूपी पाप वृक्ष का फल वध और बन्धन (कारावास)

आदि भोगना पड़ता है। इतना ही नहीं, परलोक में नरक वेदना सहनी पड़ती है—'जायते परलोके तु फलं नरक वेदना।'

"इसलिए आप इस अतिरिक्त घी को वापस ले लीजिए, वरना मेरे गुरु मुझे अपने पास नहीं रखेंगे।"

दुकानदार ने घी वापस ले लिया और राजा विक्रमादित्य सोचने लगे—'इस तापस का गुरु तो पूर्णतः निर्लोभी और निस्पृही है। क्यों न मैं अपने बहुमूल्य रत्न इस तापस के गुरु के पास ही रखूँ।' ऐसा निश्चय कर राजा विक्रमादित्य उक्त तापस के पीछे-पीछे चल दिये और उसकी कुटिया के पास पहुँचे। विधिवत प्रणाम करने के उपरान्त राजा ने पाँचों रत्न तापस के सामने रखे और कुछ कहने को उत्सुक हुए कि तापस ने उनकी ओर से मुँह फेर कर कहा—

"यहाँ से चल जाओ। जिस माया से हम दूर रहते हैं, तू उसी माया को लेकर यहाँ आ गया। धन का छूना तो दूर रहा, इसे देखना भी हम साधुओं के लिए पाप है।"

राजा ने विनयवाणी में कहा—

"महात्मन्! मैं जानता हूँ कि आपके लिए धन मिट्टी के समान है। इसलिए इसे आप मिट्टी समझकर ही अपने पास रख लीजिए। कुछ दिन भ्रमण करने के बाद मैं इन रत्नों को आपसे वापस ले लूँगा।"

साधु ने उसी तरह मुँह मोड़े हुए कहा—

"देखो भाई ! संसार में कहावत प्रसिद्ध है कि 'यत्राकृतिर्गुणास्तत्र जायन्ते खलु मानवे। यत्र स्याद्विविभस्तत्र भीतिर्भवति निश्चितम्।' अर्थात् जहाँ सुन्दर आकृति (रूप) है, वहाँ गुणों का समूह अवश्य ही आ जाता है और इसी तरह जहाँ सम्पत्ति है, वहाँ पर भय भी निश्चित रूप से रहता है। इसलिए मैं जानबूझकर भय को निमंत्रण नहीं दूँगा, यह धन कहीं और ही रख दो।"

तापस के इस कथन से राजा विक्रमादित्य और भी अधिक प्रभावित हुए और वार-वार रत्नों को रखने के लिए आग्रह करने लगे। राजा के वहुत आग्रह पर तापस का दिल पसीजा और राजा से वोला—

"तुम परदेसी हो और यहाँ के लोग ठग हैं। इसलिए मुझे डर है कि तुम्हें कोई ठग न ले। अतः मैं तो तुम्हारे रत्नों को छुऊँगा नहीं। तुम ऐसा करो कि मेरी कुटिया के छाजन में किसी स्थान पर इन्हें छिपा दो और जव आओ, तो वहीं से ले लेना।"

अपने रत्न तापस को सौंपकर राजा निश्चिन्त हो गए और अपने पास के शेष धन को लेकर विभिन्न नगरों में भ्रमण करने लगे। इधर तापस ने उन पाँचों रत्नों को निकाला। इसी तरह ठगी से उसने और भी धन इकट्ठा कर लिया था। संगृहीत धन से उसने उसी स्थान पर एक मठ वनवा

लिया तथा अनेक चेलों को लेकर उस मठ में रहने लगा। उसके चेले नगर में घूम-घूमकर परदेसी यात्रियों को अपने गुरु की महिमा का वखान कर फाँसते थे और मठ में लाकर उन्हें उल्टे उस्तरे से मूँड़ते थे। यद्यपि वह ढोंगी तापस नगर के लोगों का कुछ भी अहित नहीं करता था; फिर भी नगर के साधारण लोग उसके पास आने से डरते थे, मठ से कटकर ही निकलते थे। क्योंकि—

मायाशीलः पुरुषो यद्यपि न करोति कंचिदपराधम्।
सर्प इवाविश्वास्यो भवति तथाप्यात्मदोषहतः॥

अर्थात् मायावी—छली-प्रपंची लोग भले ही किसी का कुछ न विगाड़ें, फिर भी लोग उन पर विश्वास नहीं करते। जैसे [कोई] सर्प [यदि] नहीं काटता है, तो भी लोग उससे डरते ही हैं। इसीलिए नगर के लोग उस ढोंगी तापस से बहुत सावधान रहते थे।

भ्रमण करने के वाद राजा विक्रमादित्य उस तापस को खोजते हुए उसकी कुटिया पर गये। लेकिन कुटिया का तो वहाँ नामोनिशान भी नहीं था। उसकी जगह एक आलीशान मठ वना हुआ था। कुटिया मठ में वदल सकती है, पर तापस तो वही था। राजा ने तापस को पहचान लिया और उससे वोले—

"महात्मन्! मेरे पाँचों रत्न मुझे दे दीजिए।"

तापस ने रुखाई के स्वर में कहा—

"कैसे रत्न ? तुम्हारे रत्नों से मेरा क्या सम्वन्ध ? अपना रास्ता नापो। यहाँ किसी के रत्न नहीं हैं।"

तापस साफ मुकर गया। राजा ने उससे वहुतेरा कहा पर उसने यह माना ही नहीं कि राजा ने उसे कभी रत्न दिये थे। राजा ने सोचा—'मैं इस धूर्त तापस की शिकायत यहाँ के राजा और मन्त्री से करूँगा। तव तो यह इतना निस्पृही वनता था कि रत्नों की ओर देखता भी नहीं था। सच ही है वाहरी वेश से साधु-असाधु को नहीं पहचाना जा सकता। दूर से देखने वाले वगुला के आचरण को देखकर यही समझते हैं—देखो यह वगुला किस तरह धीरे-धीरे जमा-जमा कर पाँव रख रहा है, मानो जीव-हिंसा के डर से इस तरह धीरे-धीरे पाँवों को उठाता और रखता है, पर उसकी असलियत को तो वेचारी मछलियाँ ही जानती हैं, जिनको वह सावुत ही निगल जाता है।' इस तरह विचार करते हुए राजा विक्रमादित्य पद्मपुर के मन्त्री के महल की ओर चल दिये। महल के निकट पहुँचकर उन्होंने देखा कि मंत्री महोदय दो व्यक्तियों का न्याय कर रहे हैं। एक किसान मन्त्री सर्वभक्षी से कह रहा था—

"मन्त्रीश्वर ! इस परदेसी के वैलों ने मेरे खेतों को चर लिया है। मेरा न्याय कीजिए।"

परदेसी ने सफाई दी—

"मन्त्रिवर ! मैं एक परदेसी हूँ। मार्ग में मेरी गाड़ी का पहिया टूट गया। बैलों को गाड़ी से बाँधकर मैं अपना पहिया ठीक करने लगा कि मेरे बैल रस्सी तुड़ाकर इस किसान के खेत में घुस गए और इसके थोड़े-से पौधे खा लिए। उसके बाद मैं अपने बैलों को लेने गया कि इस किसान ने मेरी गाड़ी को तोड़ डाला और अब आपसे फरियाद कर रहा है।"

सर्वभक्षी मन्त्री ने फैसला दिया—

"परदेसी ! तुम्हारे बैलों ने इस किसान का खेत खाया है। इसलिए तुम अपराधी हो, अतः तुम्हारी टूटी गाड़ी, गाड़ी का सामान और दोनों बैल जब्त किये जाते हैं।"

मन्त्री के आदेश से उसके सेवकों ने परदेसी का सब सामान जब्त कर लिया और परदेसी रोता हुआ चला गया। उसके चले जाने के बाद मन्त्री ने किसान को आड़े हाथों लिया—

"अकारण ही तुमने चार पेड़ों के लिए परदेसी की गाड़ी तोड़ डाली, इसलिए तुम्हारी सब सम्पत्ति का हरण किया जाता है।"

मन्त्री ने किसान की सम्पत्ति का भी अपहरण कर लिया। राजा विक्रमादित्य ने सब कुछ अपनी आँखों से देखा और विचार किया—'यह सर्वभक्षी मेरा न्याय क्या करेगा ? इससे न्याय की आशा अग्नि में शीतलता प्राप्त करने की तरह मिथ्या है।'

अब राजा विक्रमादित्य सीधे राजसभा पहुँचे और राजा को प्रणाम कर दर्शकों की दीर्घा में बैठ गए। उसी समय एक बुढ़िया रोती हुई राजसभा में आई और रो-रोकर राजा से कहने लगी—

"प्रजारक्षक ! मेरा न्याय कीजिए। एक सेठ के कारण मेरा जवान और इकलौता बेटा मारा गया।"

"न्यायपरायण ! मेरा लड़का रात को चोरी करने गया था। उसने एक सेठ के घर में सेंध लगाई। जब वह सेंध लगाकर अन्दर जाने लगा तो उसी समय सेठ की दीवार गिर गई और मेरा बेटा दीवार के नीचे दबकर मर गया।"

राजा ने तुरन्त निर्णय दिया—

"तुम्हारे साथ न्याय होगा। जिस सेठ की दीवार के नीचे दबकर तुम्हारा बेटा मरा है, उसे फाँसी की सजा दी जायेगी।"

बुढ़िया बहुत खुश हुई। राजा के सेवक उस सेठ को पकड़ लाये। राजा ने वधिकों को आदेश दिया—

"इस सेठ की दीवार गिरने से बुढ़िया का चोर बेटा दबकर मर गया, अतः इसे फाँसी पर लटका दो।"

सेठ ने गिड़गिड़ाकर कहा—

"राजन् ! इस दीवार के गिरने में मैं तो सर्वथा निर्दोष हूँ। सारा दोष तो उस राज का है, जिसने मेरी

दीवार टेढ़ी बनाई। अगर वह टेढ़ी दीवार न बनाता तो दीवार कभी नहीं गिरती।"

राजा ने सेवकों को आदेश दिया—

"इस सेठ को छोड़ दो और दीवार बनाने वाले राज को पकड़ लाओ।"

सेवक राज़ को ले आये। फाँसी का कारण जानने के बाद राज ने राजा से कहा—

"प्रजापालक ! मैं तो निर्दोष हूँ। जिस समय मैं सेठ की दीवार बना रहा था, उस समय कामलता नाम की वेश्या मेरे पास से गुजरी। मेरा ध्यान उसकी ओर चला गया और दीवार थोड़ी-सी टेढ़ी हो गई। अगर वह वेश्या उधर से न गुजरती तो दीवार कभी टेढ़ी नहीं बनती। सीधी दीवार के तो गिरने का सवाल ही नहीं है।"

राजा ने कामलता वेश्या को तलब किया और उसे फाँसी का हुक्म दिया। कामलता वेश्या ने अपनी सफाई दी—

"अन्नदाता ! मैं तो बिलकुल बेकसूर हूँ। मैं तो सीधे रास्ते से अपने घर जा रही थी कि चौराहे पर मुझे एक नंगा साधु मिला। उस दिगम्बर साधु को देखकर मैं सेठ के घर के पास होकर गुजरी। अगर वह साधु रास्ते में न मिलता तो मैं इधर होकर क्यों जाती ?"

राजा ने सेवकों को आदेश दिया—

"इस मामले की जड़ वह दिगम्बर साधु ही है। इसलिए उसे तुरन्त फाँसी पर चढ़ा दिया जाय।"

वधिक लोग दिगम्बर साधु को फाँसी देने के लिए फाँसीघर में ले गये। लेकिन उसकी गर्दन बहुत पतली थी। उसमें फाँसी का फन्दा आता हो नहीं था। वधिकों ने राजा से निवेदन किया—

"महाराज ! इस साधु को फाँसी नहीं दी जा सकती, क्योंकि इसकी गर्दन तो छड़ी की तरह पतली है। इसकी गर्दन में फाँसी का फन्दा आता ही नहीं है।"

राजा ने दूसरा आदेश दिया—

"बुढ़िया के बेटे के बदले किसी-न-किसी को तो फाँसी दी ही जानी है। अतः किसी मोटी गर्दन वाले को पकड़कर फाँसी पर चढ़ा दो।"

राजसेवक मोटी गर्दन वाले व्यक्ति को ढूँढ़ने लगे। संयोग से उन्हें राजा का साला घूमता हुआ मिल गया। जीजा का अन्याय द्वारा उपार्जित माल खा-खाकर उसकी गर्दन काफी मोटी हो गई थी। वधिकों ने उसे ही फाँसी पर चढ़ा दिया।

इस अद्भुत न्याय को देखकर राजा विक्रमादित्य चुपचाप राजसभा से खिसक गए और सीधे कामलता वेश्या के यहाँ पहुँचे। उन्होंने कामलता से कहा—

"सुलोचने ! पुण्य बल से आज तुम्हारी रक्षा हो गई। वरना यहाँ के अन्यायी राजा ने तुम्हें तो फाँसी का हुक्म दे ही दिया था। मैं भी एक संकट में फँस गया हूँ। पर इस अन्यायी राजा से न्याय की आशा करना ही मूर्खता है।"

कामलता वेश्या ने पूछा—

"आप अपनी समस्या बताइए। जहाँ का राजा अन्यायी हो, वहाँ के लोग अपना न्याय स्वयं ही कर लेते हैं। मैं अपनी चतुरता से आपका संकट दूर करूँगी।"

राजा ने महात्मा रूपी ठग का समस्त वृत्तान्त वेश्या को सुनाया। वेश्या ने राजा विक्रमादित्य को एक योजना बताई और योजना बताने के बाद अन्त में कहा—

"आप मठ में पहुँचकर किसी आड़ में छिप जाइए और जो समय मैंने बताया है, ठीक उसी समय प्रकट होकर साधु से अपने रत्न माँगिए। बाकी मैं सँभाल लूँगी।"

राजा विक्रमादित्य को विदा कर कामलता वेश्या ने अपना श्रृंगार किया और अपनी दासी को उचित निर्देश देकर एक थाल में बहुमूल्य रत्न रखकर मठ की ओर चल दी। मठ में पहुँचकर तापस से मिली और उसके सामने रत्नों से भरा थाल रखकर ज्यों ही उसके ऊपर से कपड़ा

हटाया कि तापस की आँखें चुँधिया गईं और उसके मुँह में पानी भर आया। कुछ देर वाद वेश्या ने कहा—

"महात्माजी ! मेरी इकलौती वेटी काष्ठ-भक्षण करके मरना चाहती है। इसलिए मैं अपनी चल-अचल सम्पत्ति को धर्म कार्य में लगाना चाहती हूँ। मेरे इन रत्नों को आप रख लीजिए और किसी धर्म कार्य में खर्च कर डालिए। जव मेरी वेटी ही न रहेगी तो मैं इस दौलत का क्या करूँगी ?"

वेश्या की वात सुनकर तापस ने कहा—

"तुम शरीर से वेश्या जरूर हो, पर तुम्हारी आत्मा वड़ी निर्मल है। तुम वास्तव में धन का सदुपयोग करना जानती हो। तुम्हारी दानशीलता और धर्मनिष्ठा सराहनीय है। निश्चय ही तुम्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी।"

तापस और वेश्या ये वातें कर ही रहे थे कि उसी समय राजा विक्रमादित्य वहाँ आ धमके और तापस से वोले—

"धर्मावतार महात्माजी ! मेरे पाँचों रत्न मुझे वापस कर दीजिए। आप जैसे निस्पृही महात्मा के पास मेरे रत्न अव तक सुरक्षित रह गए। अगर कोई सेठ होता तो इन्हें डकार जाता। यह धरती आप जैसे अपरिग्रही के वल पर टिकी हुई है।"

राजा विक्रमादित्य की बात सुनकर तापस बड़े चक्कर में पड़ा—'अब तो मुझे रत्न देने ही पड़ेंगे। अगर इसके पाँचों रत्न नहीं दूँगा तो इस वेश्या के रत्न हाथ से निकल जायेंगे। दोनों में एक चीज तो छोड़नी ही पड़ेगी। या तो वेश्या के रत्न हाथ से जायेंगे या इसके रत्न देने पड़ेंगे। लेकिन वेश्या के रत्न अधिक हैं। इसलिए इसी के रत्न वापस करने में मुझे लाभ है।'

यह सोच तापस ने राजा विक्रमादित्य के पाँचों रत्न वापस कर दिये। अब तापस की दृष्टि थाल भरे वेश्या के रत्नों पर ही टिकी थी। इसी समय वेश्या की दासी वहाँ आयी और अपनी स्वामिनी कामलता वेश्या से बोली-

"बाई जी! आपकी पुत्री ने काष्ठ-भक्षण का विचार त्याग दिया है। अब आप जल्दी घर चलिए।"

वेश्या ने रत्नों का थाल उठाया और दासी को साथ लेकर अपने घर चल दी। तापस देखता ही रहा—दूसरों को ठगने वाला कभी-न-कभी खुद ही ठगा जाता है।

नगर में भ्रमण करके राजा विक्रमादित्य रात को कामलता वेश्या के यहाँ पहुँचे और रात्रि को वहीं विश्राम किया। सुबह उठकर उन्होंने एक रत्न वेश्या को दिया और देशाटन से पूर्ण तृप्त होकर अवन्ती के लिए चल दिये। महाराज विक्रमादित्य जब अवन्ती की ओर जा रहे थे तो मार्ग में उन्हें एक दीन प्राणी मिला। वह दारिद्र्य

दुःख से वहुत दुःखी था। दरिद्रता से वढ़कर संसार में कोई दुःख नहीं है—"नहिं दरिद्र सम दुःख जग माहीं।" उस दीन प्राणी ने राजा विक्रमादित्य के तेजस्वी रूप को देखकर कहा--

"महाराज ! मैं अभागा प्राणी हूँ। निर्धनता के कारण मेरे गुणों का कोई मूल्य नहीं रहा। जिस अवगुणी व्यक्ति के पास धन होता है, उसके अवगुण भी गुण माने जाते हैं।"

"हे भद्र ! सर्वगुण सम्पन्न निर्धन को कौन पूछता है ? इसके विपरीत जिस पर माता लक्ष्मी की कृपा हो जाती है, उसके सभी अवगुण गुण वन जाते हैं। धनी व्यक्ति के आलस्य को लोग स्थिरता का गुण कहते हैं। धनी की चंचलता उद्यमशीलता मानी जाती है। इसी तरह लक्ष्मी-वान की मूकता (गुँगेपन) को मितभाषिता, भोलेपन को सरलता और पात्रापात्र पर विचार न करने के आचरण को लोग उदारता कहते हैं।"[1]

इस दीन प्राणी की वाक्चातुरी से राजा विक्रमादित्य वहुत प्रसन्न हुए और दो रत्न उसे दे दिये। दूसरों के काम

---

१ आलस्यं स्थिरतामुपैति भजते चापल्यमुद्योगिताम्।
मूकत्वं मितभाषितां वितनुते मौग्ध्यं भवेदार्जवम्॥
पात्रापात्रविचारभावविरहो यच्छत्युदारत्मताम्।
मार्तलक्ष्मि ! तव प्रसादवशतो दोषा अपि स्युर्गुणाः॥

आने वाला धन ही धन है। यदि आपका धन कोई न चाहे तो आपसे बड़ा अभागा, इस जगत में कौन होगा?

नदी, पर्वत और वनों को पार करते हुए राजा विक्रमादित्य अवन्ती आये। यथासमय राज़सभा में विराजित हुए, अपने यात्रा-अनुभव मन्त्रियों को सुनाये और अपने राज्य की समस्याओं को सुलझाकर पूर्ववत् न्याय-नीति से प्रजा का पालन करने लगे।

राजा विक्रमादित्य के राज्य में शेर-बकरी एक घाट पानी पीते थे। उनका सुराज्य रामराज्य की याद दिलाता था। अपने-अपने क्षेत्र में सब सुखी थे। सभी को न्याय मिलता था।

□

१८

अभिनव राम बनने का स्वप्न

अपने उद्योग से मनुष्य बड़ा बनता है, किन्तु उसका मूल्यांकन दूसरे ही करते हैं। कोई स्वयं अपना मूल्यांकन करके बड़ा नहीं बनता। क्या हीरा कभी अपने मुँह से कहता है कि मेरा मूल्य लाखों रुपये है? यदि महावत यह सोच ले कि मैं हाथी पर चढ़ता हूँ, इसलिए बड़ा आदमी हूँ तो क्या यह उसकी नासमझी नहीं होगी?

प्रभुता पाकर प्रायः मनुष्य में गर्व हो ही जाता है-- 'प्रभुता पाहि काहि मद नाहीं?' अपने विपुल ऐश्वर्य और सुराज्य को देखकर राजा विक्रमादित्य ने विचार किया— 'रामराज्य में जो सुख जनता को था, वह मेरे राज्य में भी है। मैं भी तो राजा राम से कम पराक्रमी नहीं हूँ। इसलिए मैं भी दूसरा राम बनूँगा। आगे की पीढ़ी 'अभिनव राम' अथवा 'नया राम' के रूप में मेरा स्मरण किया करेगी। मेरे राज्य की चर्चा लोग 'अभिनव-राम-राज्य' कहकर किया करेंगे। आज से मैं अपना नाम 'अभिनव राम' रखूँगा। मैं किसी पण्डित से आद्योपान्त

पूरा रामचरित सुनूँगा और मेरे कार्यों में जो कमी होगी, उन्हें भी पूरी कर लूँगा। मेरा विचार है कि मेरे कुछ काम राजा राम से अधिक होंगे।'

ऐसा निश्चय कर राजा विक्रमादित्य ने तुरन्त एक विशेष सभा का आयोजन किया और मन्त्रियों को अपना मनोभाव बताते हुए कहा—

"अमात्यजनो ! आज से मैं 'अभिनव राम' बनूँगा। जो-जो कार्य राम ने किये हैं, उन शेष कार्यों को पूरा कर मैं 'नये राम' और 'नये रामराज्य' का आदर्श स्थापित करूँगा।"

"अमात्यजनो ! तुम किसी ऐसे विद्वान पण्डित को लाओ, जो राजा राम का सम्पूर्ण चरित वास्तविक रूप से सुना सके।"

मन्त्रियों ने राजा का आदेश शिरोधार्य किया और आपस में विचार किया—

"यह तो बहुत बुरा हुआ। अच्छे-भले राजा में गर्व का अंकुर फूट गया। जिस दिन यह गर्वांकुर पूरा वृक्ष बन जायेगा, उस दिन तो बहुत अनर्थ होगा। इसी गर्व ने सहस्रों नरेशों को मिट्टी में मिला दिया। लंका के राजा का नाश केवल गर्व के कारण ही हुआ था, वरना उसके बल का क्या ठिकाना था ?"

"कुछ भी हो, किसी-न-किसी युक्ति से इस गर्व-अंकुर

को समाप्त करना ही होगा। तोता कितना ही ऊँचा उड़ ले, पर क्या कभी वह गरुड़ की वरावरी भी कर सकता है ? हमारे महाराज की 'अभिनव राम' की कल्पना भी ऐसी ही है।"

सच्चा हितैषी मन्त्री वही है, जो राजा की हाँ-में-हाँ मिलाकर ठकुर सुहाती न करे। राजा विक्रमादित्य का मन्त्रिमण्डल विवेकी मन्त्रियों से ही भरा-हुआ था। वे सव राजा के हित के साथी थे, अहित के नहीं। किसी-न-किसी युक्ति से उन्होंने राजा विक्रमादित्य को उनकी भूल का स्मरण कराने का निश्चय कर लिया। कई दिन वीत गये, पर राजा विक्रमादित्य की अभिनव राम वनने की धुन समाप्त नहीं हुई। राजा ने पुनः एक वार मंत्रणाकक्ष में अपने मन्त्रियों को इकट्ठा किया और उनसे पूछा--

"अमात्यजनो ! अभी तक तुमने ऐसे किसी वक्ता का प्रवन्ध नहीं किया, जो मुझे कुल परम्परा से रामकथा सुना सके। मैं यह जानने को वहुत उत्सुक हूँ कि आखिर राम में ऐसी क्या विशेषता थी, जो मुझमें नहीं है और रामराज्य में ऐसा क्या सुख था, जो मेरे राज्य में नहीं है।"

मन्त्रियों ने कहा—

"महाराज ! हमने एक ऐसा पण्डित खोज लिया है,

जो रामराज्य की वहुत-सी ऐसी घटनाओं से परिचित है, जिसे आम पण्डित नहीं जानते। वह पण्डित अत्यन्त वृद्ध है और राम की नगरी अयोध्या में रहता है। वह आपको कुल-परम्परा से राम के जीवन की वातें वता सकेगा।

"राजन् ! अयोध्या का वह वृद्ध पण्डित यहाँ नहीं आ सकता। उसका कहना है कि यदि महाराज विक्रम अपने दल-वल सहित अयोध्या में ही पधारें तो मैं उनको राम के जीवन की अनेक चमत्कारी घटनाएँ सुना सकूँगा। स्थान परिवर्तन से मैं वहुत-सी वातें भूल भी जाऊँगा।"

"राजन् ! इसलिए आप अयोध्या पधारें, वहाँ आपकी अभिनव राम वनने की इच्छा अवश्य पूरी होगी।"

राजा विक्रमादित्य चुने हुए मन्त्रियों, सेवकों और अंगरक्षकों सहित अयोध्या पहुँच गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने अपना पड़ाव डाला। एक चवूतरे पर वृद्ध पण्डित और राजा विक्रमादित्य वक्ता श्रोता के रूप में वैठे। वृद्ध पण्डित ने एक टीले की ओर संकेत करते हुए राजा से कहा—

"राजन् ! आप इस टीले को खुदवायें तो मैं आपको राम के जीवन की एक घटना सप्रमाण वताऊँगा।"

राजा ने टीला खुदवाया। काफी गहराई के वाद उस टीले के गर्भ में एक सुन्दर भवन निकला, जो रत्नों के

आलोक से जगमगा रहा था। वृद्ध पण्डित और राजा विक्रमादित्य घूम-घूम कर उस भवन को देखने लगे। जहाँ-तहाँ रत्न बिखरे पड़े थे और रत्नजटित भद्रपीठ तथा पादपीठ भी कहीं-कहीं लुढ़के हुए थे। इन सबको देखकर राजा बहुत विस्मित हुआ। भवन के एक कक्ष में घूमते हुए राजा को रत्नों से जड़ी एक जूती मिली। उस जूती को हाथ में उठाते हुए राजा ने पण्डित से पूछा—

"मालूम पड़ता है, यह राजा राम का निजी भवन है। यह जूती तो जनानी लगती है। शायद सीताजी की होगी। लेकिन दूसरी जूती तो कहीं दिखाई ही नहीं देती।...."

जब राजा बोल चुका तो वृद्ध पण्डित ने कहा—

"राजन्! यह भवन राजा राम का नहीं है, बल्कि राम की एक साधारण प्रजा भीम चमार का है। इस जूती की भी एक कहानी है....।"

"अरे! एक मामूली चमार का घर ऐसा! जब राम की निम्न स्तरीय प्रजा का जीवन स्तर इतना ऊँचा है तो राम का क्या हाल होगा....!"

राजा विक्रमादित्य आश्चर्य में डूब गये। उन्हें ऐसा लगा कि मैं कोई स्वप्न देख रहा हूँ। बार-बार वे अपने

हाथ में लगी रत्नजटित जूती को उलट-पलट कर देखने लगे। फिर एकाएक बोले—

"पण्डित जी ! इस जूती की क्या कहानी है ? मुझे वह कहानी सुनाओ।"

"तो सुनो !" कहकर वृद्ध पण्डित भीम चमार की पत्नी की जूती की कहानी सुनाने लगा।

१८

चमारी की जूती

राजा राम के शासनकाल में यह स्थान चमारों की वस्ती थी। यहीं भीम नाम का एक चमार रहता था। भीम चमार की स्त्री पद्मा वहुत ही अविनीत और दुष्ट स्वभाव की थी। उसकी पति से कभी नहीं पटती थी। सास-श्वसुर को भी वह कुछ नहीं समझती थी। वात-वात में झगड़ा किया करती थी। भीम और उसके माता-पिता वहुत अच्छे स्वभाव के थे। फिर भी उस स्त्री का मिजाज सदा सातवें आसमान पर रहता था। उसका पीहर भी वैभव सम्पन्न था। भीम की सुसराल वाले यद्यपि अयोध्या के निवासी नहीं थे, लेकिन उनका नगर भी राजा राम के राज्य में ही था। एक दिन भीम चमार की पत्नी इतनी क्रुद्ध हुई कि एक जूती पहनकर अपने पीहर चली गई और अपनी रत्नजटित दूसरी जूती अपने पति के घर ही छोड़ गई।

जव वह अपने पिता के घर पहुँची तो उसने अपने माता-पिता से साफ-साफ कहा—

"पिताजी ! अब मैं अयोध्या अपने पति के पास कभी नहीं जाऊँगी । सदा यहीं रहूँगी ।"

उसके पिता ने सोचा—'अभी गुस्से में है । दो-चार दिन में गुस्सा उतर जायेगा तो अपने घर चली जायेगी । जब कई दिन बीते तो भीम की पत्नी पद्मा के पिता ने उसे समझाया—

"बेटी ! तेरी शोभा पति के घर में ही है । राजा-महाराजा की बेटी भी सदा पीहर नहीं रहती । तू सदा पति के अनुकूल रहा कर और अपने सास-श्वसुर की सेवा किया कर । हम राजा राम की प्रजा हैं । आदर्श राजा की प्रजा को भी आदर्श रहना चाहिए । राजा राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं । तुझे भी स्त्री की मर्यादा में रहना चाहिए ।"

पिता की इस शिक्षा का भीम की पत्नी पर कोई असर नहीं हुआ । उसने कभी न जाने का निश्चय पुनः दुहरा दिया । इसके बाद भीम के श्वसुर ने भीम को बुलवाया और अपनी बेटी पद्मा से कहा—

"बेटी ! तेरे पति भीम तुझे लेने आये हैं । तू उनके साथ अयोध्या चली जा ।"

भीम की पत्नी ने कहा—

"मैं अपने पति के साथ कदापि नहीं जाऊँगी ।"

भीम के श्वसुर ने क्रुद्ध होकर कहा—

"तो क्या तू राम-लक्ष्मण-सीता के साथ जायेगी ? क्या वही तीनों तुझे लेने आयेंगे ?"

भीम की पत्नी ने पिता की बात पकड़ली और बोली—

"पिताजी ! अब तो मैं तभी अयोध्या जाऊँगी, जब राम-लक्ष्मण-सीता मुझे लेने आयेंगे। उससे पहले मैं कभी नहीं जाऊँगी।"

पद्मा के पिता चक्कर में पड़ गए। करते भी क्या ? भीम की पत्नी पद्मा ने सोचा—'अब तो सदा यहीं रहूँगी। पति के घर जाने से सहज में ही मेरा पिण्ड छूट गया। न तो कभी राम-लक्ष्मण-सीता यहाँ आयेंगे और न मैं वहाँ जाऊँगी।'

उड़ते-उड़ते राजा राम के कानों में भी यह बात पड़ गई कि मेरी नगरी के भीम चमार की पत्नी पद्मा ने यह प्रतिज्ञा करली है कि जब तक मैं, लक्ष्मण और सीता उसे लेने नहीं जायेंगे, तब तक वह अयोध्या नहीं आयेगी। अतः अपनी प्रजा की प्रतिज्ञा पूर्ति और भीम के सुख के लिए मुझे वहाँ जाना चाहिए। यह सोचकर श्रीराम ने सीता-लक्ष्मण से कहा—

"आज तुम देवर-भाभी को मेरे साथ अयोध्या से बाहर चलना है। वन जाते समय तो तुम दोनों अपनी

इच्छा से मेरे साथ गये थे और आज मेरी इच्छा से मेरे साथ चलो ।"

छाया की तरह राम के साथ रहने वाली सिया को भला क्या ऐतराज होता ? लक्ष्मण भी उनके परम आज्ञाकारी थे । फिर भी लक्ष्मण ने पूछा—

"भैया ! हमें कहाँ चलना है ?"

राम ने बताया—

"अयोध्या के वाहर एक नगर है । वहाँ एक चमार के यहाँ भीम की सुसराल है । हमारी नगरी के भीम चमार की वहू पद्मा ने प्रतिज्ञा की है कि जब हम तीनों उसे लेने जायेंगे, तभी वह अपने पति के यहाँ अयोध्या आयेगी ।"

लक्ष्मण ने कहा—

"भैया ! मैं तो आपका सेवक हूँ । जहाँ कहोगे, वहाँ चलूँगा । लेकिन अयोध्यापति राम एक चमार के घर जायें, यह राजमर्यादा के प्रतिकूल होगा ।"

राम ने समझाया—

"सौमित्र ! राजा का कर्तव्य हर तरह से अपनी प्रजा को सुख देना है । इस कर्तव्य पालन में राजा को कुछ भी करना पड़े, उसे करना चाहिए ।"

"लक्ष्मण ! प्रजा राजा की सन्तान होती है और

पिता यदि सन्तान के घर जाये, इसमें मर्यादा भंग का तो प्रश्न ही नहीं है। भीम मेरी नगरी का चमार है, मेरी प्रजा है और भीम का श्वसुर यद्यपि मेरी नगरी का नहीं है, फिर भी वह मेरी प्रजा है। इसलिए प्रजा के घर जाने से कोई दोष नहीं होगा।

"सुमित्रानन्दन ! मुकुट में जड़ा रत्न और धूल में पड़ा रत्न—इन दोनों ही दशाओं में रत्न के मूल्य में कमी नहीं आती। भीम चमार की सुसराल जाने से क्या मेरे रामत्व में कोई कमी आयेगी ?"

अन्ततः राम-सिया-लक्ष्मण भीम की सुसराल पहुँच गये। भीम के श्वसुर को जब यह पता लगा कि अयोध्या-पति राम, पत्नी और अनुज सहित मेरे घर आये हैं तो उसके हर्ष और आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वह दौड़ा-दौड़ा अपनी बेटी पद्मा के पास गया और बोला—

"बेटी पद्मा ! तेरी प्रतिज्ञा पूर्ण करने स्वयं राजा राम, महारानी सीता और मनस्वी लक्ष्मण आये हैं।"

आश्चर्य से पद्मा की आँखें फटी-की-फटी रह गईं—

"पिताजी ! यह आप क्या कहते हैं ? क्या हमारे घर राजा राम आये हैं ?"

"हाँ बेटी, वही दीनानाथ, प्रजावत्सल श्रीराम आये हैं....।"

पद्मा के पिता ने राजा राम को अपने भवन में

ठहराया। उनके लिए उन्हीं के अनुकूल सिंहासन दिया और खूब आवभगत की। लाज की मारी पद्मा उनके पास नहीं आई। तब सीताजी स्वयं पद्मा के महल में गईं। पद्मा ने उनके चरण छुए।

सीताजी के अंचल में तेल का धब्बा लगा हुआ था। उसे देखकर पद्मा ने पूछा—

"महारानीजी! क्या आपके घर तेल का दीपक जलता है?....इसीलिए शायद यह तेल का धब्बा लग गया है। हमारे घर तो रत्नदीप और मणिदीपों का प्रकाश होता है।"

सीताजी ने मुस्कराकर कहा—

"पद्मा! हमारे घर तो 'स्नेह'[1] का दीपक ही जलता है। मेरी आत्मा इसी से बहुत खुश है कि मेरी प्रजा के घर रत्नों से जगमगाते हैं। माता-पिता इसी बात से अधिक खुश रहते हैं कि उनकी सन्तान सुखी है।"

प्रेम-विभोर होकर पद्मा सीताजी के पैरों से लिपट गई। फिर राम ने भी पद्मा को समझाया—

"बेटी! तुम भीम के सदा अनुकूल रहो, यही चाहता हूँ। तुम्हारा पति भीम तो बहुत अच्छा है

---

१ स्नेह=तेल, चिकनाई, प्रेम, लगाव।

अच्छी स्त्री तो अपने बुरे पति को भी देव मानकर पूजती है।"

पद्मा ने प्रतिज्ञा की—

"आज से मैं कभी अपने पति और सास-श्वसुर की अवहेलना नहीं करूँगी।"

हर्ष के वातावरण में पद्मा विदा हुई और राम के साथ अयोध्या आ गई।

यह कथा सुनाने के वाद वृद्ध पंडित ने राजा विक्रमादित्य से कहा—

"राजन् ! यह रत्नजटित जूती उसी पद्मा चमारिन की है, जिसकी कहानी अभी मैंने आपको सुनाई है।"

सव वृत्तान्त सुनने के वाद भी राजा विक्रमादित्य कुछ नहीं वोले और विचारों की गहराई में डूवते चले गए। उन्हें मौन देख वृद्ध पंडित ने पुनः कहा—

"राजन् ! इस विश्व में एक-से-एक वढ़कर मनुष्य हैं। कोई व्यक्ति सवसे वड़ा वनना चाहे, यह कैसे हो सकता है ? राजा राम अपनी जगह हैं और आप—राजा विक्रमादित्य अपनी जगह हैं।

"राम की वरावरी आप कैसे कर सकते हैं ? उनकी प्रजावत्सलता और उनके राम-राज्य का एक छोटा-सा नमूना ही आपने देखा है। राम सागर की तरह गम्भीर थे, आकाश की तरह महान थे। उन्होंने जीवन में कभी कोई

वात दो वार नहीं कही। वे छोटों के लिए वहुत वड़े थे और वड़ों के लिए छोटे होकर भी वड़े थे। उन्होंने पिता और विमाता कैकेयी के वचनों को पालने के लिए इतने वड़े राज्य को तृण की तरह त्याग दिया था।"

"इसलिए आप 'अभिनव राम' वनने का विचार त्यागिए।"

राजा विक्रमादित्य ने कहा—

"पंडित जी ! अभिनव राम वनने का विचार तो पद्मा चमारिन की जूती देखते ही त्याग चुका था। आपकी वातें सुनकर मेरी तो आँखें खुल गईं।"

"पंडित जी ! ऊँट सदा यही समझता है कि मैं वहुत ऊँचा हूँ। मुझसे ऊँचा इस जगत में कोई नहीं है। लेकिन जव वह पहाड़ के पास से गुजरता है, तभी उसे अपने वौनेपन का पता लगता है।"

"पंडित जी ! मैं भी आज ही समझा हूँ कि श्रीराम के सामने मैं कितना वौना हूँ।"

अयोध्या के वृद्ध पंडित को दानादि से सन्तुष्ट कर राजा विक्रमादित्य अवन्ती आ गए। अवन्ती आकर भी उन्होंने दीन याचकों को दान देकर सन्तुष्ट किया और दत्तचित्त होकर राजकाज सम्हालने लगे।

☐

२०

भाग्यविधात्री देवी को चुनौती

राजा विक्रमादित्य ने एक दिन विचार किया— 'पिछली बार मैं देशाटन के लिए गया। पर्याप्त नगर, ग्राम और वन-पर्वत देखे। पद्मपुर नगर के अन्यायी राजा और सर्वभक्षी मन्त्री की करतूतें देखीं। लेकिन यह क्षेत्र अवन्ती से बहुत दूर का नहीं था। मुझे अवन्ती से बहुत दूर के नगरों और वहाँ के जीवन को भी निकट से देखना चाहिए।' ऐसा निश्चय कर राजा विक्रमादित्य मार्ग व्यय लेकर सुदूर देशों की यात्रा के लिए चल दिये।

देश-विदेशों की यात्रा करते हुए राजा विक्रमादित्य चैत्रपुर नामक नगर में पहुँचे। यह नगर बहुत ही रम्य और सुन्दर था। यहाँ अनेक श्रेष्ठी रहते थे। अभी हाल में धनद नाम के एक श्रेष्ठी के यहाँ पुत्र-जन्म हुआ था। उसके भवन पर काफी चहल-पहल थी। बहुत भव्य उत्सव मनाया जा रहा था। उस उत्सव को देख राजा विक्रमादित्य ने एक नागरिक से पूछा—

"यहाँ यह महोत्सव किस खुशी में हो रहा है?"

नागरिक ने बताया—

"बड़ी प्रतीक्षा और दान-पुण्यों के प्रभाव से धनद श्रेष्ठी को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई है। इसी खुशी में पुत्र जन्म के छठे दिन यह उत्सव मनाया जा रहा है। आज धनद के पुत्र की छठी है। आज की रात विधात्री देवी (बेमाता) उसका भाग्य लिखेगी।"

नागरिक की बात सुन राजा विक्रमादित्य अपने डेरे पर लौट आये और रात की प्रतीक्षा करने लगे। सन्ध्या का झुरमुटा होते ही वे श्रेष्ठी धनद के घर के बाहर पहुँच गए और एक कोने में छिपकर विधिदेवी की प्रतीक्षा करने लगे। जाने कब अदृश्य होकर विधात्री देवी सेठ धनद के घर घुस गई और उसके पुत्र की भाग्यलिपि लिखकर ज्योंही बाहर जाने लगी कि राजा विक्रमादित्य ने उसे देख लिया और कसकर उसका हाथ पकड़ लिया और बोले—

"हे कर्म अधिष्ठात्री ! बताओ, तुमने श्रेष्ठिपुत्र के भाग्य में क्या लिखा है ?"

देवी कुछ अचकचाई—'यह कौन मानव है, जो मेरे काम में टाँग अड़ाता है ?'

देवी स्पष्ट बोली—

"तुम कौन हो ? भाग्य सदा अदृश्य रहता है। भाग्य

का लिखा अपने समय पर स्वयं ही प्रकट होता है। मैं तुम्हें कुछ नहीं बताऊँगी।"

राजा विक्रमादित्य ने दृढ़ता से कहा—

"अगर तुम मुझे श्रेष्ठिपुत्र का भाग्य नहीं बताओगी तो मैं तुम्हारा हाथ कदापि नहीं छोड़ूँगा।"

देवी कुछ विवश हुई और बोली—

"अगर तुम यह वचन दो कि श्रेष्ठिपुत्र का भाग्य घटित होने से पहले किसी को नहीं बताओगे तो मैं तुम्हें बताऊँगी।"

राजा ने वचन दिया। देवी ने बताया—

"श्रेष्ठी धनद के इस पुत्र का जीवन सामान्य रहेगा। बड़ा होकर विद्यावान बनेगा। एक बार बीमार पड़ेगा और फिर ठीक हो जायेगा। जब यह विवाह के योग्य होगा तो इसका पिता धनद सोलह श्रेष्ठिकन्याओं के साथ इसका विवाह करेगा। लेकिन विवाह-मण्डप में श्रेष्ठिपुत्र को एक बाघ खा जायेगा और श्रेष्ठिपुत्र की मृत्यु हो जायेगी।"

राजा ने विधिदेवी का हाथ छोड़ दिया और वह अन्तर्धान हो गई। महाराज विक्रमादित्य अपने विश्राम स्थान पर आकर सो गए। दूसरे दिन महाराज विक्रमादित्य धनद श्रेष्ठी के घर पहुँचे और उसे पुत्र-जन्म की

बधाई दी। श्रेष्ठी धनद ने अतिथि का उचित सत्कार किया और पूछा—

"महाभाग ! आप कहाँ के रहने वाले हैं ? आपका क्या नाम है और हमारे नगर में किस प्रयोजन से आये हैं ?"

राजा विक्रमादित्य ने बताया—

"श्रेष्ठिवर ! मेरा नाम विक्रम है। मैं उज्जयिनी का रहने वाला हूँ। भ्रमण की इच्छा से यहाँ आया हूँ।"

कुछ दिन राजा ने श्रेष्ठी धनद का आतिथ्य ग्रहण किया और जब विदा होने लगे तो श्रेष्ठी धनद ने आग्रह किया—

"अब आप मेरे मित्र हो गये हैं। मेरे कुमार के विवाह में अवश्य आना।"

राजा ने कहा—

"अगर तुम मुझे बुलाने आओगे तो मैं अवश्य आऊँगा। मेरी भी इच्छा है कि मैं तुम्हारे पुत्र के विवा में शामिल होऊँ।"

चैत्रपुर से विदा होकर राजा विक्रमादित्य अवन्त आये और राज-काज में लग गए। इधर श्रेष्ठिपुत्र व लालन-पालन पाँच धायों के संरक्षण में होने लगा। ज वह आठ वर्ष का हुआ तो श्रेष्ठी धनद ने उसका विद्या रम्भ कराया। यथासमय श्रेष्ठि पुत्र पढ़-लिखकर यो

बन गया। जब वह विवाह योग्य हुआ तो धनद श्रेष्ठी ने सोलह श्रेष्ठिकन्याओं के साथ एक ही मुहूर्त में उसका विवाह निश्चित किया। विवाह से एक महीने पहले सोलहों श्रेष्ठी अपनी-अपनी कन्याओं को लेकर चैत्रपुर में आ गए। विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। लेकिन विवाह-कार्यों में कोई-न-कोई विघ्न पड़ जाता था। अचानक ही श्रेष्ठी धनद के मन में विचार उठा कि मैंने अभी तक अवन्ती के रहने वाले विक्रम को नहीं बुलाया। सम्भव है इसीलिए विवाह-कार्यों में विघ्न होते हैं। विक्रम को बुलाने के लिए श्रेष्ठी धनद अवन्ती पहुँचा और एक नागरिक से विक्रम का घर पूछा तो नागरिक ने बताया—

"अवन्ती में विक्रम नाम के कई व्यक्ति हैं। पता नहीं, तुम किस विक्रम के घर का पता पूछ रहे हो।"

धनद ने विक्रम की हुलिया और पहचान बताई—

"विक्रम का मस्तक अष्टमी के चन्द्रमा जैसा है। उनके बाल घुँघराले, अत्यन्त श्याम और सचिक्कण हैं। उनकी मूँछें घनी और घुमावदार हैं। लम्बा कद है। घुटनों तक लम्बी भुजाएँ हैं। वक्ष बहुत चौड़ा है। उनका रूप बहुत आकर्षक है।"

नागरिक ने बताया—

"ये सब लक्षण तो राजा विक्रमादित्य के हैं।"

धनद कुछ हैरत में पड़ा और राजमार्ग से होकर राज-

महल की ओर जाने लगा। उसी समय सामने से राजा विक्रमादित्य की सवारी आ रही थी। जब महाराज विक्रम की सवारी कुछ निकट आई तो श्रेष्ठी धनद उन्हें गौर से देखने लगा। राजा विक्रमादित्य ने श्रेष्ठी धनद को पहचान लिया और अपना हाथी रोककर उसे अपने पास बैठाया। कुछ उदास होकर धनद ने राजा से कहा—

"महाराज ! आपने मुझे अपना असली परिचय पहले नहीं दिया ? मैं तो आपका कुछ भी सत्कार नहीं कर पाया।"

राजा ने कहा—

"भाई धनद ! सत्कार तो हृदय की भावना का होता है, साज-सामान का नहीं। अगर तुम राजा विक्रम को लिवाने अवन्ती आते तो कोई आश्चर्य नहीं था। लेकिन मुझे एक साधारण विक्रम समझकर भी तुम चैत्रपुर से यहाँ आये हो, यह क्या मामूली सत्कार है ?"

इस तरह बातें करते हुए धनद को लेकर राजा विक्रमादित्य महल में पहुँचे और दो दिन धनद को अपने यहाँ रपूर्वक रखने के बाद कहा—

"तुम अपने नगर पहुँचो। मैं अपने परिवार सहित तुम्हारे पुत्र के विवाह में आऊँगा।"

× × ×

चैत्रपुर में राजा विक्रमादित्य का पड़ाव लगा। विवाह

की वेला आई। वहुत वड़ा मण्डप सजाया गया। सव लोग हर्ष विभोर थे। लेकिन राजा विक्रमादित्य अपनी ही धुन में लगे हुए थे। उन्होंने अपने सशस्त्र सैनिकों को मण्डप के चारों ओर तैनात कर दिया। कुछ सैनिक वर के पास खड़े हो गये और महाराजा विक्रमादित्य स्वयं भी ढाल-तलवार लेकर वर के पास ही सन्नद्ध हो गये।

विवाह होने जा रहा था। फेरों की तैयारियाँ हो रही थीं। उसी समय एक सैनिक की ढाल से एक वाघ प्रकट हुआ और श्रेष्ठीपुत्र को मारकर यमलोक पहुँचा दिया। पुत्र के इस आकस्मिक निधन को देखकर श्रेष्ठी धनद पछाड़ खाकर गिर पड़ा और मूर्च्छित हो गया। चारों ओर हा-हाकार मच गया। खुशियाँ मातम में वदल गईं। जैसे-तैसे धनद को चैतन्य किया गया। वह सिर पटक-पटक कर रोने लगा और उसने काष्ठभक्षण का निश्चय कर लिया। राजा विक्रमादित्य ने सेठ को समझाया—

"मित्र धनद! भाग्य के लिखे को कोई नहीं मिटा सकता। इसकी मृत्यु इसी तरह होनी थी। तुम्हारे पुत्र की छठी के दिन भाग्यविधात्री देवी ने मुझे वताया था कि तुम्हारे पुत्र की मृत्यु विवाह-मण्डप में वाघ के द्वारा होगी।"

धनद आश्चर्य से राजा की ओर देखने लगा और वोला—

"तुमने मुझे पहले ही क्यों नहीं बताया ? यदि तुम पहले बताते तो मैं यह विवाह ही न करता और अपने पुत्र को बचा लेता।"

राजा ने कहा—"न बताने के लिए मैं वचनबद्ध था और यदि बता भी देता तो भी तुम भावी को नहीं मिटा सकते थे। क्योंकि तुम्हारे पुत्र की रक्षा के लिए मैंने कोई कसर नहीं छोड़ी। फिर भी एक सैनिक की ढाल से बाघ प्रकट हो गया और कर्म रेखा को पूरा कर गया।"

धनद ने कहा—"कुछ भी हो, मैं तो अब अवश्य ही काष्ठभक्षण करूँगा।"

राजा विक्रमादित्य ने अपनी तलवार खींच ली और धनद श्रेष्ठी से बोला—

"धनद ! अगर तुम्हारा पुत्र पुनः जीवित नहीं होगा तो मैं स्वयं अपनी गर्दन तलवार से अलग कर दूँगा।"

राजा के इस साहस को देखकर विधिदेवी काँप गई। उसने सोचा—'राजा की उम्र तो पूरी सौ वर्ष है। अगर ये पहले मर गये तो मेरा लिखा अन्यथा हो जायेगा।' यह सोच कर्म अधिष्ठात्री देवी प्रकट हुई और राजा का हाथ पकड़कर बोली—

"राजन् ! मैं आपको नहीं मरने दूँगी। आपकी उम्र पूरे सौ वर्ष है।"

राजा ने कहा—"तो फिर धनद के पुत्र को जीवित करो।"

देवी ने कहा—"राजन् ! यह मेरे हाथ की बात नहीं है। क्योंकि श्रेष्ठी धनद के पुत्र ने अपने पूर्व जन्म में केहरीसिंह नाम के व्यक्ति को मारा था। उसी केहरीसिंह ने बाघ बनकर अपना बदला लिया है। कृतकर्म का फल कभी अन्यथा नहीं होता।"

राजा ने तर्क दिया—

"कर्म फल पूरा हो गया। केहरीसिंह ने अपना पूर्व वैर चुका लिया और तुम्हारा लिखा भी अमिट रहा। इसलिए अब पुनः जीवित करने में तुम्हें कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। अगर तुम श्रेष्ठीपुत्र को जीवित नहीं करोगी तो मैं अपना सिर धड़ से अलग कर दूँगा।"

देवी निरुत्तर और विवश हो गई। उसने धनद-कुमार को जीवित कर दिया। बड़ी धूमधाम से धनदकुमार का विवाह सोलह श्रेष्ठीकन्याओं के साथ हुआ। राजा विक्रमादित्य के इस अपौरुषेय कर्म को देखकर सभी चकित और हर्षित थे।

२१

चोर-चोर मौसेरे भाई

राजा विक्रमादित्य देशाटन हेतु बाहर गये थे। पीछे से कुछ चोर-उचक्कों ने अवसर देख लिया। वे निर्भय होकर चोरियाँ करने लगे। धीरे-धीरे चोरों का आतंक बढ़ा। राजा के वापस आने पर स्वर्ण, चाँदी, माणिक्य, वस्त्र, किराना आदि के व्यापारी राजा से शिकायत करने आये—

"अन्नदाता ! हम तो लुटे जा रहे हैं। हमारे घरों और दुकानों की नित्य चोरियाँ होती हैं।"

राजा ने सभी श्रेष्ठियों को आश्वासन दिया—

"आप लोग निश्चिन्त रहें। मैं शीघ्र ही चोर को पकड़ूँगा और आपके घाटे को भी पूरा करूँगा। जो राजा प्रजा से आयकर लेता है और चोरों से उनकी रक्षा नहीं कर सकता, वह अवश्य ही नरक को जाता है।"

राजा से आश्वासन पाकर सभी धनिक अपने-अपने घरों को लौट गए और राजा मन-ही-मन विचार करने

लगा—'मेरे राज्य में से सभी व्यसनों का सफाया हो गया था। लेकिन ये चोर कहाँ से आ गये ? किसी तरह मैं अकेले ही इन चोरों को पकड़ूँगा।'

रात्रि को वेश बदलकर राजा नगर के चौराहों पर घूमने लगा। घूमते-घूमते राजा जौहरी बाजार के चौराहे पर पहुँचा। राजा ने सोचा किसी-न-किसी वक्त चोर इस रत्नचौक पर अवश्य आते होंगे। संयोग से जिस समय राजा यह विचार कर रहा था कि चार व्यक्ति मणिचौक से होते हुए रत्नचौक पर आकर रुके। राजा ने सोचा—'लगता है, यही चारों चोर हैं। इनमें मिलकर भेद प्राप्त करना चाहिए।' उन चारों के निकट पहुँचकर राजा ने पूछा—

"भाइयो ! तुम कौन हो ? मुझे भी अपने साथ ले लो।"

चोरों ने राजा से कहा—

"तूने हमें भाई कहा है। इसलिए अब हमारा साथी हो गया। हे भाई ! हम चारों चोर हैं और चोरी करने जा रहे हैं।"

राजा विक्रमादित्य ने कहा—

"मैं भी चोर हूँ। प्रजापाल मेरा नाम है। आज मैं तुम्हारे साथ ही चोरी करूँगा।"

इस प्रस्ताव पर चारों चोरों ने कहा—

"हम चारों में कुछ विशेषताएँ हैं। तुम में क्या विशेषता है, सो तुम हमें बताओ।"

इस पर प्रजापाल चोररूपी राजा विक्रमादित्य ने कहा—

"पहले तुम चारों अपनी-अपनी विशेषताएँ बताओ। फिर मैं भी बताऊँगा।"

उन चारों में से एक ने कहा—

"सात तालों में छिपी वस्तुओं को मैं गन्ध से ही बता देता हूँ कि कहाँ क्या रखा है।"

दूसरे ने कहा—

"मैं हाथ के स्पर्श से वज्र कपाटों और तालों को कमलनाल की तरह तोड़ देता हूँ।"

तीसरे ने कहा—

"जिस व्यक्ति की आवाज मैं एक बार सुन लेता हूँ। सौ वर्ष बाद भी मैं उसे केवल आवाज सुनकर पहचान लेता हूँ।"

अन्त में, चौथे चोर ने बताया—

"मैं पशु-पक्षियों की भाषा समझता हूँ।"

चारों की विशेषताएँ सुनकर प्रजापाल चोर बने राजा विक्रमादित्य ने कहा—

"मैं जिनके मध्य रहता हूँ, उनका राजा कभी कुद

नहीं विगाड़ सकता। मेरे साथ रहने वाला राजा से निर्भय रहता है।"

राजा के इस कथन को सुनकर चोरों ने कहा—

"यह तो वहुत अच्छी वात है। आज हम मेघवर्ण नाम के श्रेष्ठी के यहाँ चोरी करने जायेंगे। दिन में हमने उसके यहाँ वहुत माल देखा है।"

राजा ने परामर्श दिया—

"भाइयो ! उड़द-मूँग, कपास आदि का व्यापार करने वाले मेघवर्ण श्रेष्ठी का धन लेने से हमारा अनिष्ट होगा, क्योंकि उसकी आत्मा वहुत दुःख पायेगी। मरने वाले को तो क्षण भर का ही कष्ट होता है, पर जिसका धन चोरी चला जाता है, वह जीवन-भर रोता रहता है और जीते-जी मरण को प्राप्त होता है। अतः श्रेष्ठी के घर से चोरी करने का विचार छोड़ो और मेरे साथ राजमहल चलो। राजा के यहाँ तो मुफ्त का धन होता है। उसे कोई विशेष कष्ट नहीं होगा। इसके अलावा राजा के यहाँ रत्न, मणि-माणिक्य भी वहुत मिलेंगे।"

चारों चोर प्रजापाल चोर के विचारों से सहमत हो गए और राजमहल की ओर चलने लगे। फिर प्रजापाल ने उन चारों चोरों को सुझाव दिया—

"तुम जो धन चुराओ, उसमें से कुछ भाग राजा के

पहरेदारों को भी दे देना। इससे हमारा काम सहज हो जायेगा।"

प्रजापाल के इस प्रस्ताव से असहमत होकर चोरों ने कहा—

"प्रजापाल ! ऐसा कदापि सम्भव नहीं है। क्योंकि राजा विक्रमादित्य के सेवक बहुत स्वामिभक्त हैं। वे हमसे कोई हिस्सा नहीं लेंगे। इसीलिए तो आज तक हमारी दाल नहीं गली। हम तो तुम जैसे विशिष्ट साथी को पाकर ही आज राजमहल में चोरी करने जा रहे हैं।"

इस प्रकार बातें करते-करते पाँचों चोर राजमहल के पिछवाड़े पहुँच गए और ऊँची दीवार को पारकर महल में प्रविष्ट हो गए। विक्रमादित्य ने पहले चोर से पूछा—

"अब तुम बताओ, कहाँ क्या चीज रखी है ?"

उक्त चोर ने मणि, रत्न आदि का भेद बता दिया कि कहाँ क्या रखा हुआ है। उसके बाद प्रजापाल ने ताला तोड़ने वाले से कहा—

"अब तुम अपने हाथ के स्पर्श से खजाने के ताले तोड़ दो।"

दूसरा चोर ज्योंही ताला तोड़ने को हुआ कि उसी समय एक स्यारनी बोलने लगी। तब पशु-पक्षियों की बोली समझने वाले चोर ने अपने साथियों से कहा—

"यह शृगाली कह रही है कि ताले मत तोड़ो, क्योंकि
न का मालिक सब कुछ देख रहा है।"

सभी चोर रुक गये। राजा ने सबको उत्साहित
या—

"पशु-पक्षियों पर कायर पुरुष विश्वास करते हैं। धन
। स्वामी राजा विक्रमादित्य तो महल के सातवें खण्ड में
ो रहा है, वह हमें कैसे देख सकता है?"

राजा के आश्वासन पर खजाने के ताले तोड़ दिये
ए। जब सब खजाने से रत्नों की पेटियाँ उठाने लगे तो
गाली फिर बोलने लगी। पशु-पक्षियों की भाषा समझने
ले ने पुनः कहा—

"शृगाली कह रही है कि धन का स्वामी तुम्हारे साथ
ी है, इसलिए चोरी मत करो।"

चारों फिर रुक गये। राजा ने फिर समझाया—

"शृगाली झूठ कह रही है। उसने पहले भी यही कहा
ा कि राजा देख रहा है। जैसे पहली बात झूठी थी,
से ही यह भी झूठी है। तुम निश्चिन्त होकर पेटियाँ
ठाओ।"

चोरों ने रत्नों से भरी एक-एक पेटी उठाई। उसी
मय शृगाली पुनः बोली और उसके बोलते ही कुत्ता भी
ौंकने लगा। तब अन्य साथियों ने पशु-पक्षियों की भाषा
े जानकार अपने साथी से पूछा—

"यह शृगाली और कुत्ता क्या कहते हैं?"

भाषामर्मज्ञ ने बताया—

"शृगाली कुत्ते से कह रही है कि तुम भौंकते क्यों नहीं हो? तुम्हारे रहते चोर चोरी कर रहे हैं और तुम चुप बैठे हो। इस पर कुत्ता ने कहा है कि जब मालिक साथ में है तो मैं क्या भौंकूँ?"

चोरों ने पेटियाँ रख दीं और खाली हाथ लौटने लगे तब राजा विक्रमादित्य ने कहा—

"चोरो! क्या तुम मेरी विशेषता भूल गए? मैंने कहा था कि 'जिनके साथ मैं रहता हूँ, उनका राजा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। इसलिए तुम निश्शंक होकर चोरी करो। राजा से तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट नहीं होगा।"

चारों चोरों ने एक-एक पेटी उठा ली। एक रत्न पेटी राजा विक्रमादित्य ने भी ले ली। पाँचों रत्नचौक पर इकट्ठे हुए। चारों चोरों ने राजा विक्रमादित्य को बधाई दी—

"हे प्रजापाल! तुम्हारे सहयोग से आज हमने राजा की चोरी की है। तुम हमें रोज यहीं मिल जाया करो।"

विक्रमादित्य ने कहा—

"अब तक मैं अकेला था। तुम्हें पाकर मेरी शक्ति अब

अब और भी बढ़ गई है। यह बताओ कि अगर मैं तुमसे दिन में मिलना चाहूँ तो कैसे मिलूँ।"

चारों चोरों ने बताया—

"दिन में भी हम अवन्ती में घूमते हैं। कल हम तुम्हें इसी चौक में मिलेंगे। हम चारों के हाथ में एक-एक बिजौरा नीबू होगा। बिजौरा नीबू देखकर ही तुम हमें पहचान लेना।"

चारों अपने-अपने घर चले गए और राजा भी रत्न पेटी को लेकर महल में आकर सो रहा।

सवेरे जब खजाने का ताला टूटा देखा तो प्रहरेदार और कोषाध्यक्ष बहुत घबराये। कोषाध्यक्ष ने देखा कि राजकोष से पाँच पेटियों की चोरी हुई है तो उसने सोचा, 'जहाँ पाँच पेटियाँ चोरी गई हैं, वहाँ छह भी जा सकती हैं। चोर क्या यह कहने आयेंगे कि हमने छह नहीं लीं, पाँच ही ली हैं। क्यों न एक पेटी मैं भी ले लूँ। बहती गंगा में हाथ धो लेने से क्या हानि है?' यह सोच एक रत्न पेटी कोषाध्यक्ष ने हथिया ली।

राजकोष की चोरी का समाचार सुनकर राजा विक्रमादित्य अपने प्रहरियों पर बहुत क्रुद्ध हुआ। उसने मुख्य प्रहरी से कहा—

"तुम ढंग से काम नहीं करते हो। तुम्हारे रहते मेरी चोरी हुई है, अतः मैं तुम्हें चोर की सजा दूँगा।"

राजा का निर्णय सुनते ही प्रहरी का मुँह उतर गया। उदास मुख वह अपने घर गया और विना कुछ खाये-पिये ही लेट गया। प्रहरी की पत्नी बड़ी चतुर थी। उसने अपने पति से पूछा--

"ऐसी क्या वात है कि तुम वहुत उदास हो ? तुमने खाना भी नहीं खाया। उदास रहने से और खाना छोड़ने से कोई भी संकट दूर नहीं होता। धीरज से हरेक समस्या का हल निकल आता है।"

पत्नी की वात सुनकर प्रहरी ने राजकोष का वृत्तान्त सुना दिया। इस पर उसकी पत्नी ने अपने पति को एक युक्ति वताई और कहा—

"जैसा मैंने कहा है, तुम वैसा ही राजा से कह दो। सव समस्या सुलझ जायेगी।"

प्रहरी ने राजा से कहा—

"राजन् ! मेरी सव सम्पत्ति आप ले लीजिए। चूँकि मेरे रहते हुए आपकी चोरी हुई है, मेरा काम ठीक नहीं है, इसलिए मैं अव किसी दूसरे राज्य में नौकरी करूँगा।"

प्रहरी की वात सुनकर राजा ने कहा---

"प्रहरी ! तुम्हें कहीं जाने की जरूरत नहीं है। मैं तो ०।१. परीक्षा ले रहा था। सिद्ध चोर चौकीदारों की आँखों में धूल झोंककर भी चोरी करते हैं। अतः मैं तुम्हें निर्दोष मानता हूँ।"

"प्रहरी ! तुम कुछ आरक्षियों को लेकर रत्नचौक चले जाओ। वहाँ विजौरा नीबू लिए हुए तुम्हें चार व्यक्ति मिलेंगे। उन्हें वन्दी वनाकर यहाँ ले आओ।"

इधर रत्नचौक में वैठे चारों चोर रात वाले प्रजापाल नाम के चोर की प्रतीक्षा कर रहे थे। राजा को हमें पहचानने में भ्रम न हो, इसलिए वे वार-वार अपने हाथ में लगे विजौरा नीबू को उछाल रहे थे। उसी समय राजा के सेवकों ने उन चारों को पकड़ लिया। चारों हक्के-वक्के होकर पूछने लगे—

"हमने तुम्हारा क्या विगाड़ा है ? हमें कहाँ ले जा रहे हो ?"

प्रधान प्रहरी ने कहा—

"जो कुछ कहना है, राजा से कहना। हम तो राजाज्ञा का पालन कर रहे हैं।"

चारों को राजा के समक्ष उपस्थित किया गया।

राजा ने चारों चोरों से कहा—

"तुमने राजकोष से रत्नपेटियाँ चुराई हैं। उन पेटियों को मेरे हवाले करो और फिर अपने अपराध का दण्ड भोगने के लिए तैयार हो जाओ।"

चोरों ने चारों रत्नपेटियाँ अपने घर से लाकर दीं। राजा ने उनसे पूछा—

"मेरे खजाने से छह पेटियाँ चोरी हुई हैं। दो पेटियां और कहाँ हैं?"

चोरों ने कहा—"प्रजारक्षक! हमें मारें या छोड़ें, हमने चार ही पेटियाँ ली थीं।"

राजा ने कहा—"मैं उन दो पेटियों का भी पता लगा लूँगा। अब मैं तुम्हें मृत्यु दण्ड देता हूँ।"

राजा के हुक्म से वधिक उनका वध करने के लिए ले जाने लगे। उन चारों चोरों में से एक ने कहा—

"मैं जिसकी बोली एक बार सुन लेता हूँ, सौ वर्ष बाद भी उसकी बोली सुनकर उसे पहचान लेता हूँ। रात हमारे साथ प्रजापाल चोर के रूप में यह राजा ही था शृगाली ने जो कुछ कहा था, सो सब सत्य ही था।"

इस प्रकार विचार-विमर्श करने के बाद चारों राजा से कहा—

"राजन्! रात प्रजापाल चोर ने हमें आश्वासन दि था कि जिनके साथ मैं होता हूँ, राजा उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। फिर आप हमें मृत्यु दण्ड क्यों रहे हैं?"

चारों को मुक्ति का आदेश देने से पहले राजा उनसे कहा—

"अगर तुम मुझे वचन दो कि कभी चोरी नहीं कर तो मैं तुम्हें अभी मुक्त कर दूँगा।"

चोरों ने कहा—

"राजन् ! चोरी छोड़ने के अलावा हम अपना सर्वस्व आपको दे सकते हैं। जैसे चन्द्र चाँदनी को नहीं छोड़ सकता, उसी तरह चोर चोरी कैसे छोड़ सकता है ?"

राजा ने चारों को मुक्त किया और उन्हें समझाया—

"चोरो ! चोरी से लोक-परलोक दोनों बिगड़ते हैं। लोक में वध-बन्धन का कष्ट मिलता है और परलोक में नरक भोगना पड़ता है। चोरी से बड़ा कोई पाप नहीं। चोर कभी सुखी नहीं रहता।

"चोरो ! मैंने ही रात तुम्हारे साथ चोरी की थी, इसलिए तुम मेरे भाई हुए। भाई के नाते मैं तुम्हें पाँच सौ गाँव पुरस्कार में देता हूँ। इससे तुम जीविका की ओर से निश्चिन्त हो जाओगे।"

"चोरो ! तुम्हारे साथ एक रत्नपेटी मैंने भी चुराई थी और एक पेटी निश्चय ही मेरे कोषाध्यक्ष ने ली है।"

राजा का वचन सुनकर कोषाध्यक्ष थर-थर काँपने लगा। राजा ने उसे भी अभयदान दिया और छहों पेटियाँ पूरी कर लीं।

चारों चोरों ने चोरी न करने की प्रतिज्ञा की और सदाचार पूर्ण जीवन विताने लगे।

२२

गर्व-खण्डन

एक वार अपने शयन कक्ष में शय्या पर लेटे-लेटे राजा विक्रमादित्य ने विचार किया—'मेरे समान शक्तिमान् और बलशाली इस धरती पर दूसरा नहीं है। मैंने महाबलवान असुर अग्निवेताल को अपने अधीन किया। खप्पर जैसे अजेय चोर को यमलोक पहुँचाया। नरद्वेषिणी सुकोमला के अहंकार को चूर करके उससे विवाह किया। इतना ही नहीं, मेरे पुत्र विक्रमचरित्र में जो भी पराक्रम है, उसमें भी मेरा अंश है, इसीलिए उसकी तेजस्विता है। मुझसा कोई अन्य नहीं है। मैं इस धरती पर घूमकर अपने समान वलशाली को खोजकर देखूँगा।'

अहंकार मनुष्य का सबसे वड़ा शत्रु होता है। शक्ति मनुष्य को विनम्र वनाती है और जो वल पाकर अकड़ता है, वह टूट जाता है। इस धरती पर एक-से-एक वढ़कर हैं। कहावत है—'मर्दों को मर्द घनेरे, घर नहिं [तो] बाहर बहुतेरे।' राजा विक्रमादित्य को अपने वल का गर्व हुआ। हाथ में खड्ग और कंधे पर धनुष तथा तूणीर

लेकर राजा विक्रमादित्य अपने वल को आजमाने चल दिया ।

चलते-चलते राजा विक्रमादित्य एक गाँव के समीप पहुँचा । उसने देखा कि एक किसान हल चला रहा है । उसके हल में बैलों की जगह एक ओर शेर तथा दूसरी ओर चीता जुते हुए हैं । इतना ही नहीं, किसान ने रस्सी की जगह सर्पों का प्रयोग किया है । ऐसे अद्‌भुत पराक्रमी किसान को देखकर राजा विक्रमादित्य दंग रह गया । कुछ सहमते-सकुचाते राजा उक्त किसान के पास पहुँचा और वोला—

"हे कृषक ! क्या तुम्हारे समान और भी कोई वल-शाली इस धरती पर है ?"

किसान ने कहा—

"महानुभाव ! मैं तो कुछ भी नहीं हूँ । एक पुरुष तो मुझसे वहुत अधिक वलवान है । उस पुरुष का मेरी स्त्री से जार सम्वन्ध है । वह रात को मेरे घर आता है और मेरी स्त्री से काम-क्रीड़ा करता है । उसके डर से मैं एक कोने में भीगी बिल्ली वना वैठा रहता हूँ ।"

राजा विक्रमादित्य ने किसान से कहा—

"कृषकराज ! आज रात को मैं तुम्हारे घर चलूँगा और तुम्हारी पत्नी के जार प्रेमी को देखूँगा ।"

राजा विक्रमादित्य और उक्त किसान घर में छिपकर

बैठ गये। किसान का सहभोगी पुरुष उसकी स्त्री के साथ काम-क्रीड़ा करने लगा। कोने में बैठे राजा विक्रमादित्य ने उस पुरुष की ओर वाण चलाये। वाणों के लगने के वाद किसान के सहभोगी पुरुष ने किसान की स्त्री से कहा—

"आज तो मुझे कुछ मच्छर काट रहे हैं। चलो वाहर हवा में बैठेंगे।"

जार पुरुष की वात सुनकर राजा विक्रमादित्य वहुत चकराया। उसने सोचा—'यह पुरुष कितना वलवान है कि वाणों के प्रहार को मच्छरों का काटना समझता है?' जार पुरुष किसान की स्त्री को लेकर वाहर निकला। किसान और राजा विक्रमादित्य भी उसके पीछे-पीछे चले। जार पुरुष ने पीछे मुड़कर देखा और किसान तथा राजा विक्रमादित्य को वगल में दवाकर किसान की स्त्री से वातें करने लगा—

"अभी जव हम दोनों इधर आ रहे थे तो दो भिनगे मुझे मिले थे। मैंने उन दोनों को अपनी दोनों वगलों में इधर-उधर दवा लिया है।"

"कहाँ हैं? मुझे भी दिखाओ।" किसान की स्त्री ने जव इतना कहा तो जार पुरुष ने किसान और राजा विक्रमादित्य को वाहर निकालकर धरती पर फेंक दिया। ऐसे अद्भुत पराक्रमी अमानवीय वल वाले पुरुष को देख-

कर राजा विक्रमादित्य के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। आश्चर्य से चकराकर राजा ने आँखें मूँद लीं। कुछ देर वाद जव उसने आँखें खोलीं तो न वहाँ किसान था, न उसकी स्त्री थी और न किसान की स्त्री का जार प्रेमी ही था। वलिक अपूर्व रूप और कान्ति से युक्त स्वर्ण कुण्डल तथा रत्नमुकुट धारण किये हुए देव मन्द-मन्द मुस्कराते हुए राजा को देख रहा था। देव को देखकर राजा ने पूछा—

"देव ! तुम कौन हो ? वह किसान आदि कहाँ गये ?"

राजा का प्रश्न सुनकर देव ने कहा—

"अवन्तीपति ! मैं स्वर्णप्रभ नामक देव हूँ। किसान, उसकी पत्नी और वह जार पुरुष आदि सब मेरी माया थी। तुम्हारे गर्व का खण्डन करने के लिए ही मैंने किसान आदि की सृष्टि की थी। दुर्जन मनुष्य तुच्छ वस्तु पाकर ही अहंकार में भर जाते हैं। चूहा हल्दी की एक गाँठ पाकर अपने को दुकानदार समझने लगता है। लेकिन सज्जन पुरुष वल, लक्ष्मी, विद्या, कुल आदि किसी का गर्व नहीं करते। इन सवका न्यूनाधिक भाग धरती पर सर्वत्र रहता है। यह धरती रत्नगर्भा और रत्नप्रसूता है। यहाँ पदे-पदे द्रव्यों की खान और रसकुम्पिका मिलती हैं। हर शेर को सवाशेर मिल जाता है।"

देव की वातें सुनकर राजा को अपनी भूल का भान

हुआ। राजा अवन्ती आया। सज्जन पुरुषों के मन में यदि कोई बुराई आती भी है तो उसे वह बलपूर्वक निकाल देते हैं। राजा विक्रमादित्य ने अपने मिथ्याभिमान को तुरन्त निकाल दिया। अवन्ती आकर याचकों को बहुत सा दान देकर सन्तोष सुख प्राप्त किया और पहले की तरह प्रजा के सुख-दुख देखने लगे।

२३

दान में अविश्वास क्यों

एक वार एक अश्व व्यापारी दो सुन्दर घोड़े लेकर राजा विक्रमादित्य के पास आया। राजा विक्रमादित्य को दोनों घोड़े वहुत अच्छे लगे। दोनों घोड़े उसने अश्वशाला में वँधवा दिये। उसी समय राजा के मन में घुड़सवारी का शोक पैदा हुआ और उन नये घोड़ों में से एक घोड़े पर सवार होकर जंगल की ओर चल दिया।

यह घोड़ा वक्रशिक्षित था। ज्यों-ज्यों उसे रोकने की कोशिश की जाती, वह और भी तेज दौड़ता था। राजा को इस रहस्य का पता न था। घोड़ा राजा को लेकर वेतहाशा दौड़ा और उसे वहुत दूर ले गया। चलते-चलते घोड़ा जव काफी थक गया तो एक पेड़ के नीचे अपने आप रुक गया। राजा ने चैन की साँस ली। लेकिन अत्यन्त थका होने के कारण घोड़ा धरती पर गिर पड़ा और ऐसा गिरा कि फिर नहीं उठ सका।

प्यास के कारण राजा विक्रमादित्य का कण्ठ सूखा जा रहा था। इधर जव उन्होंने अपने घोड़े को मरा देखा तो

और भी व्याकुल हुए तथा मूर्च्छित होकर धरती पर गिर पड़े। राजा के पुण्यों से प्रेरित एक वनवासी भील उधर आ निकला। वनवासी भील ने राजा को मूर्च्छित देखा तो तुरन्त ही पत्तों के सम्पुट (दोने) में भरकर सरोवर से जल लाया और राजा को सचेत किया। होश में आने के बाद भील राजा को अपनी गुफा पर ले गया और भोजन-पानी से राजा का सत्कार किया। भील की सरल सेवा और आतिथ्य से प्रसन्न होकर राजा ने उससे कहा—

"भाई भील ! अपने को नागरिक कहने वाले नगर-जन तुम्हारे सामने उसी तरह तुच्छ हैं, जैसे चन्द्रमा के सामने दीपक होता है। तुम्हारा मुझसे कोई परिचय नहीं, मुझसे कोई स्वार्थ या प्रयोजन नहीं, फिर भी तुमने परोपकार का सुपथ चुना है। तुम धन्य हो, तुम्हारी गृहिणी धन्य है। इस वन में भी तुम परम सुखी हो, क्योंकि सन्तोष जैसा महा दुर्लभ धन तुम्हें प्राप्त है।"

"हे वनवासी ! यह धरती दो प्रकार के मनुष्यों के सहारे ही टिकी हुई है। एक वे जो सदा परोपकार में तत्पर रहते हैं और दूसरे वे जो अपने साथ किये गए दूसरे के उपकार को नहीं भूलते। सज्जनों का स्वभाव ही ऐसा है। सज्जन सदा अपना कार्य छोड़कर भी दूसरों के कार्य में लगे रहते हैं। जैसे चन्द्रमा अपने कलंक को

मिटाना छोड़कर पृथ्वी को आलोकित ही करता रहता है।"[1]

राजा के वचन सुनकर वनवासी भील बहुत प्रसन्न हुआ। वनवासी तथा उसकी पत्नी ने राजा को यथा-सम्भव सभी सुविधाएँ दीं। रात को राजा गुफा में लेट रहा। वनवासी की स्त्री भी एक कोने में सोई रही। वनवासी भील गुफा से बाहर बैठकर पहरा देने लगा। उसने गुफा-द्वार को एक भारी शिला से बन्द कर दिया।

गुफा में लेटा-लेटा राजा विक्रमादित्य विचार कर रहा था—'इस भील का भोजन अत्यन्त साधारण था; फिर भी रसयुक्त अथवा स्वादिष्ट था। दूसरे के अन्न में जो रस है, वह वास्तव में खिलाने वाले का आदर-भाव ही है। इसीलिए किसी विचारक ने ठीक ही कहा है कि "पानी में चित्त को शान्ति पहुँचाने वाला रस है, दूसरे के भोजन में जो आदर है, वह आदर ही पराये अन्न का रस है। इसी तरह स्त्रियों में जो अनुकूलता है, वही रस है, तथा मित्रों का प्रियवचन ही मैत्री का रस है।"[2] इस विश्व में उदार आशय व्यक्ति ही उन्नति को प्राप्त करते हैं।

---

१ हुंति परकज्जनिरया निअकज्जपरमुंहा फुडं सुअटा।
चन्दो धवलेइ महीं न कलंकं अत्तणो फुसइ॥

२ पानीयस्य रसः शान्तं परान्नस्यादरो रसः।
आनुकूल्यं रसः स्त्रीणां मित्राणां वचनं रसः॥

तुच्छ मनुष्य तो नष्ट हो जाते हैं। जैसे ग्रीष्म ऋतु में भी समुद्र पूर्ण वृद्धि को प्राप्त करता है और सरोवर सूख जाते हैं।'

राजा अपने विचारों की उधेड़-बुन में था। उसे नींद नहीं आ रही थी। उसी समय गुफा से वाहर राजा को सिंहनाद सुनाई दिया। शेर की भयंकर गर्जना और गुर्राहट सुनकर भील की पत्नी भी जग गई। उसने राजा से कहा—

"जल्दी चलो! लगता है, मेरे स्वामी पर शेर ने हमला कर दिया है।"

भील पत्नी के साथ राजा गुफाद्वार पर आया तो वहाँ एक भारी शिला अड़ी हुई थी। चिन्तित होकर भीलनी ने राजा से कहा—

"अब हम वाहर कैसे निकलेंगे? इस शिला को तो मेरा पति ही हटा सकता है।"

भीलनी की वात सुनकर राजा ने बाएँ पैर के अँगूठे से प्रस्तर शिला को हटाया और भीलनी सहित गुफा से वाहर आये। शेर ने भील को मार दिया था। अपने पति को मरा हुआ देख भीलनी मूर्च्छित होकर गिर पड़ी और फिर कभी भी उसे होश नहीं आया।

अपने आतिथेय परोपकारी भील दम्पती के मरण राजा को वहुत शोक हुआ। राजा ने दोनों प्राणियों

दाह-संस्कार किया और अवन्ती वापस आये। अवन्ती आकर राजा ने विचार किया—'सभी शास्त्र और सभी धर्म दान तथा शुभ कर्मों की महिमा गाते हैं। लेकिन जिस भील दम्पती ने मुझे जीवन-दान दिया—भोजन-पानी से मुझ मरते हुए को वचाया, वे अचानक ही मृत्यु को प्राप्त हुए। शास्त्रों की वात को सही माना जाए या अपनी आँखों देखी वात सही मानूँ ? मैंने तो प्रत्यक्ष ही देख लिया कि शुभ कर्म करने वालों की भी विधाता दुर्दशा करता है। अतः मैं अपनी सभी दानशालाएँ वन्द करा दूँगा।'

राजा ने दानशालाएँ वन्द करवादीं। नित्य दिया जाने वाला दान वन्द हो गया। दूर-दूर से आने वाले याचक निराश होकर लौटने लगे।

× × ×

अवन्ती नगरी में वहुत-से धनी-मानी सेठ-साहूकार निवास करते थे। अवन्ती में वत्तीस करोड़ स्वर्ण-सम्पत्ति का स्वामी श्रीपति नाम का एक कोटीश्वर श्रेष्ठी रहता था। श्रीपति की सेठानी ने शुभ मुहूर्त में एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। इस पुत्र ने जन्म लेते ही एक चमत्कार दिखाया। वह यह कि नवजात शिशु की तरह न रोकर वय प्राप्त मनुष्य की तरह अपने पिता श्रीपति सेठ से कहने लगा—

"पिताजी ! राजराजेन्द्र महाराज विक्रमादित्य को शीघ्र ही यहाँ बुलाइये। उन पर बहुत बड़ा संकट आने वाला है।"

नवजात पुत्र की ऐसी अद्भुत वाणी सुनकर सेठ श्रीपति पहले तो बहुत घबराया। फिर स्थिर चित्त होकर वह राजा के पास गया और सब वृत्तान्त सुनाकर अपने साथ ले आया। सेठ श्रीपति के नवजात पुत्र ने राजा से कहा—

"राजन् ! शास्त्र-वचनों में अविश्वास करना घोर पाप है। क्योंकि जिन ऋषियों ने शास्त्र-रचना की है, वे दृष्टा रहे हैं। उन्होंनें जो कुछ लिखा है, वह देखकर व अनुभव करके लिखा है। दान के विषय में शास्त्रों में जो महिमा गाई गई है, उसमें सन्देह करना गूलर के फूल देखने के समान हास्यास्पद है।

"राजन् ! आप सदैव से दान देते आये हैं, उसे आपने क्यों बन्द कर दिया है ? आप दान देना फिर से शुरू कर दीजिए।"

बालक की वाणी सुनकर राजा ने कहा—

"हे बालक ! मैंने तो प्रत्यक्ष देखा है कि मुझे जीवन-देने वाले भील दम्पती को एक शेर ने अकारण ही मार डाला। अतः मैं कैसे विश्वास करूँ कि दान का फल महान है ?"

श्रेष्ठिपुत्र ने कहा—

"राजन् ! मैं ही वह भील हूँ, जिसने आपको अन्नदान दिया था। थोड़े-से अन्नदान का ही यह फल है कि मेरा जन्म कोटीश्वर श्रेष्ठी के घर हुआ है।"

"राजन् ! इस दान के प्रभाव से ही पूर्व जन्म की मेरी पत्नी भीलनी ने अवन्ती के दान्ता श्रेष्ठी के यहाँ जन्म लिया है। बड़ी होकर वही मेरी पत्नी बनेगी।"

"राजन् ! मुझे बोलते देखकर आप किंचित् भी आश्चर्य न करें। क्योंकि देवी पद्मावती ही आपको यह सब रहस्य बता रही हैं।"

इसके बाद नवजात शिशु में स्थिर देवी पद्मावती चली गई और बालक स्वाभाविक रूप से रुदन करने लगा। राजा इस रहस्योद्घाटन से बहुत प्रसन्न और सन्तुष्ट हुआ। राजा ने सेठ श्रीपति को पाँच सौ गाँव पुत्र-जन्म की बधाई में दिये और पूर्ववत् मुक्त हस्त से दान करने लगा।

□

२४

सोच कीजिये काज

राजा विक्रमादित्य एक ऐसे देश में पहुँचे, जहाँ त्रिया-राज्य था। इस राज्य में स्त्रियों का कार्य पुरुष करते थे और स्त्रियाँ उन पर शासन करती थीं। यहाँ के सभी पुरुष स्त्रियों के सामने भीगी बिल्ली बने हुए थे। लेकिन राजा विक्रमादित्य के शौर्य भरे पौरुष के सामने स्त्री राज्य की रानी हतप्रभ हुई और राजा की भक्ति करके त्रियाराज्य की रानी ने राजा विक्रमादित्य को दिव्य प्रभाव वाले निम्नलिखित चौदह रत्न दिये—

पहला रत्न स्तम्भ निर्माता था। **दूसरे** के प्रभाव से लक्ष्मी आती थी। **तीसरे** से जल, **चौथे** से वाहन की प्राप्ति, **पाँचवें** से अस्त्र-शस्त्र से सुरक्षा, **छठे** से नर-नारी वश में होता और **सातवें** रत्न के प्रभाव से इच्छित भोजन मिलता था। **आँठवें** रत्न के प्रभाव से कुटुम्ब, धन-धान्य की वृद्धि, **नौवें** से समुद्र पार होना, **दसवें** से विद्या प्राप्ति, **ग्यारहवें** से भूत-प्रेतादि के प्रभाव का हरण और **बारहवें** रत्न से सर्पादि के काटने का भय दूर होता था। **तेहवाँ** रत्न

सेना तैयार करता था और चौदहवें रत्न से आकाशगमन की शक्ति प्राप्त होती थी।

इन रत्नों को प्राप्त कर राजा विक्रमादित्य अवन्ती वापस आये और सबके प्रभाव की परीक्षा की।

राजा विक्रमादित्य के रात्रि वेला के चार अंगरक्षक थे, जिनके नाम क्रमशः शतमति, सहस्रमति, लक्षमति और कोटिमति थे। चारों स्वामिभक्त, बुद्धिनिधान और राजा के लिए प्राणोत्सर्ग करने वाले साहसी थे। क्रम-क्रम से रात्रि के चारों प्रहरों में राजा की रक्षा में सन्नद्ध रहते थे।

एक बार राजा विक्रमादित्य अपने शयनकक्ष में सोये हुए थे। उनके पास ही उनकी रानी दूसरी शय्या पर सोई हुई थीं। रात्रि के प्रथम प्रहर में अंगरक्षक शतमति अपने पहरे पर था। उसी समय राजा ने किसी स्त्री के रोने की आवाज सुनी। राजा विक्रमादित्य ने अंगरक्षक शतमति से कहा—

"शतमति ! जाकर देखो, यह कौन स्त्री रो रही है। मेरे राज्य में कोई रोना नहीं चाहिए। अपने प्राण देकर भी मैं प्रजा के कष्टों को दूर कर उसे सुखी व प्रसन्न देखना चाहता हूँ। इस रोने वाली स्त्री के दुःख का कारण पूछकर आओ।"

शतमति ने कहा—

"स्वामी ! आपको अकेले छोड़कर कैसे जाऊँ ? राजा के जहाँ हजारों मित्र व शुभचिन्तक होते हैं, वहाँ सैकड़ों शत्रु और अवसर की ताक में रहने वाले दुष्ट भी होते हैं।"

राजा ने कहा—

"शतमति ! तुम मेरी चिन्ता मत करो। जब तक तुम लौटोगे, तब तक मैं जागता रहूँगा। क्योंकि जैसे उद्यमी को दरिद्रता नहीं सताती, जाप करते रहने से पाप नहीं लगता और उसी तरह जागने वाले को कोई डर नहीं रहता।"

राजा की आज्ञा प्राप्त कर शतमति रोने की आवाज का पीछा करते हुए नगर के बाहर पहुँचा। वहाँ एकान्त में बैठी एक स्त्री रो रही थी। शतमति ने उस स्त्री से पूछा—

"कल्याणी ! तुम क्यों रोती हो ? प्रजावत्सल राजा विक्रम तुम्हारे दुःख से दुःखी हैं। तुम अपना कष्ट मुझे बताओ। मैं उसे दूर करूँगा।"

शतमति की सान्त्वनापूर्ण वाणी सुनकर उस स्त्री ने कहा—

"हे भद्र ! मैं राजलक्ष्मी हूँ। राजा पर आने वाले समस्त विघ्नों को मैं दूर करती हूँ। लेकिन आज राजा पर ऐसा विघ्न आने वाला है, जिसे दूर करने की शक्ति मुझमें नहीं है।"

शतमति के पूछने पर उस देवी ने पुनः बताया—

"शतमति ! जहाँ राजा सो रहा है, वहाँ ऊपर छत से एक काला भयंकर सर्प आयेगा, जो इस रात को ही राजा को डस लेगा और राजा की मृत्यु हो जायेगी । यदि तुममें साहस हो तो राजा की रक्षा हो सकती है ।"

शतमति ने आश्वासन दिया—

"देवी ! तुम निश्चिन्त हो जाओ । मैं उस सर्प को अवश्य मारूँगा और राजा को बचाऊँगा ।"

शतमति से आश्वासन पाकर राजलक्ष्मी चली गई और शतमति राजा को बिना बताये गुप्त रूप से राजा के सिरहाने बैठ गया। शतमति का इन्तजार करते-करते राजा की भी आँख लग गई। यथासमय छत से एक काला सर्प निकला। शतमति ने उस सर्प के चार टुकड़े कर दिये और उसे एक घड़े में बन्द कर दिया। दीवार पर रेंगते सर्प को मारते समय उसके विष मिश्रित रक्त के छींटे रानी के वक्ष पर गिर गये। विष प्रभाव की आशंका से शतमति ने रानी के वक्ष पर पड़े रक्त के छींटे अपने करचीर (रूमाल) से पोंछे। अचानक राजा की आँख खुल गई और उसने शतमति को रानी की छाती पर हाथ फेरते हुए देख लिया। यह दृश्य देखकर राजा का खून खौल उठा—"अरे ! यह दुष्ट इतना दुस्साहसी है कि मेरी रानी के सुकोमल अंग को छू रहा है ।" क्रोध में भरे राजा ने शतमति को मारने के लिए तलवार उठाई। लेकिन

अचानक ही उनका हाथ रुक गया और सोचा—'इसे मैं अपने हाथ से नहीं मारूँगा। किसी से मरवाऊँगा।' राजा ने अपने मन का भाव छिपा लिया और शतमति से बोले—

"शतमति ! तुम लौट आये ? वह स्त्री क्यों रो रही थी ?"

शतमति ने कुछ-का-कुछ बताकर राजा को शान्त किया। राजा ने पुनः कहा—

"शतमति ! तुम्हारा प्रहर समाप्त हो रहा है। अब तुम घर जाओ। अपने पहरे पर सहस्रमति आ रहा होगा।"

राजा से विदा लेकर शतमति अपने घर चला गया और राजा की प्राणरक्षा की खुशी में अपने घर पर नृत्य-गायन का उत्सव करने लगा। इधर सहस्रमति अपने पहरे पर आया तो राजा ने उससे कहा—

"सहस्रमति ! तुम शतमति के घर जाओ और उसका वध कर दो।"

इस कठोर आज्ञा को सुनकर सहस्रमति सहम गया और राजा से बोला—

"राजन् ! आपको अकेले छोड़कर मैं कैसे जा सकता हूँ ? शतमति के वध का कार्य तो सवेरे भी हो जायेगा। रात के समय मैं आपको असुरक्षित नहीं छोड़ सकता।"

राजा ने कहा—

"सहस्रमति ! मैं जाग रहा हूँ। याद रखो, जैसे पढ़ने मूर्खता का नाश होता है और जैसे मौन रहने से झगड़े

का अन्त होता है, उसी तरह जागने से भय का नाश होता है। अतः मेरी चिन्ता छोड़कर तुम शीघ्र ही शतमति का वध करो। वह मेरा अपराधी है।"

राजाज्ञा से विवश सहस्रमति शतमति के घर पहुँचा। वहाँ शतमति राग-रंग में मस्त था। सहस्रमति के पहुँचने पर शतमति ने उसका सहृदयतापूर्ण स्वागत किया और स्नेहभाव से आसन दिया। उसके इस आत्मीयता पूर्ण व्यवहार को देखकर सहस्रमति ने विचार किया—'पता नहीं, राजा इसे क्यों मरवाना चाहते हैं? मुझे तो यह बहुत सरल, आत्मीय और उदार मालूम पड़ता है। इसका वध करना तो महा अनर्थ होगा।' सहस्रमति मौन होकर शतमति के बारे में विचार कर रहा था कि एकदम चौंक कर शतमति ने उससे पूछा—

"सहस्रमति! राजा की रक्षा का कार्य छोड़कर तुम यहाँ क्यों चले आये? राजा के अनेक शत्रु हैं। उन्हें अकेला नहीं छोड़ना चाहिए। मेरे पहरे में उन पर एक महा संकट आया था, जो दैवकृपा से टल गया। अब तुम शीघ्र ही जाओ।"

शतमति का यह कथन सुनकर सहस्रमति ने कोई जवाब नहीं दिया और सोचने लगा—'यह शतमति तो निस्सन्देह राजभक्त और राजा का शुभचिन्तक है। यद्यपि इसका पहरा समाप्त हो गया है, फिर भी इसे राजा की चिन्ता है। कुछ भी हो, मैं इसे नहीं मारूँगा।'

यह सोचने के बाद सहस्रमति ने शतमति के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—

"शतमति ! संगीत-ध्वनि सुनकर मैं तुम्हारे घर की ओर खिंचा चला आया था। अब राजा के पास ही जा रहा हूँ।"

यह कहकर सहस्रमति राजा के पास आ गया। राजा ने जब यह जाना कि सहस्रमति शतमति का वध किये बिना ही वापस आ गया है तो कुछ क्रुद्ध होकर बोले—

"सहस्रमति ! तू भी शतमति की तरह दुष्ट हृदय है। लगता है, तेरी उसकी साँठ-गाँठ है। इसीलिए तूने उसका वध नहीं किया।"

राजा को क्षुब्ध-क्रुद्ध देखकर सहस्रमति ने कहा—

"राजन् ! ऐसे कार्यों में जल्दबाजी करने से बाद में पछताना पड़ता है। अतः आप काफी सोच-विचार के बाद कदम उठाइए। कहीं ऐसा न हो कि बाद में पछताना पड़े।"

इन बातों में दूसरा प्रहर बीत गया और तीसरे प्रहर में लक्षमति अपने पहरे पर आया। राजा ने लक्षमति को भी शतमति के वध का कार्य सौंपा। राजा की यह अनपेक्षित आज्ञा सुनकर लक्षमति ने सोचा—'अवश्य ही राजा को कुछ भ्रम हुआ है। शतमति जैसा स्वामिभक्त और बुद्धिमान व्यक्ति क्या ऐसा अपराध कर सकता है, जिससे उसे मृत्यु दण्ड दिया जाय।'

प्रकट रूप में लक्षमति ने राजा से कहा—

"राजन् ! आपकी आज्ञा का पालन तो मैं करूँगा ही, पर इस कार्य में जल्दी करने से पछताने की सम्भावना है। गरीवी, रोग आदि सवका उपचार है, पर विना विचारे किये गये कार्य से जो पछतावा हाथ पड़ता है, उसको दूर करने का कोई उपाय नहीं।"

"हे राजन् ! विना विचारे कार्य की परिणाम वाली एक छोटी-सी कहानी मैं आपको सुना रहा हूँ। उसे सुनने के वाद भी आप आज्ञा देंगे तो मैं उस कार्य पर विचार करूँगा।"

लक्षमति राजा विक्रमादित्य को कहानी सुनाने लगा—

लक्ष्मीपुर नामक नगर में भीम नाम का एक श्रेष्ठी था। व्यापार-कला में निपुण सुन्दर नाम का श्रेष्ठी भीम का पुत्र था। एक बार श्रेष्ठि पुत्र सुन्दर अपने ही नगर के धन नाम के श्रेष्ठी के साथ व्यापार करने गया। दोनों रमापुर नगर में पहुँचे और खूब धन कमाया। धनोपार्जन कर धन श्रेष्ठी जव लक्ष्मीपुर को लौटने लगा तो श्रेष्ठि-पुत्र सुन्दर ने उसे एक करोड़ के मूल्य का एक रत्न देकर उससे कहा—

"मेरे पिताजी श्रेष्ठी भीम से मेरा प्रणाम कहना और उन्हें यह रत्न दे देना। मैं कुछ काल वाद और भी अधिक धन कमाकर आऊँगा।"

धन श्रेष्ठी यथासमय लक्ष्मीपुर आया और भीम श्रेष्ठी को उसके पुत्र सुन्दर के सब समाचार दिये, पर वह रत्न नहीं दिया। बाद में जब सुन्दर अपने नगर लौटा तो उसे धन श्रेष्ठी की बेईमानी का पता लगा। सुन्दर ने राजा से फरियाद की। इधर श्रेष्ठी धन ने श्रीधर नाम के एक ब्राह्मण को कुछ मोहरें देकर अपना गवाह बना लिया।

राजा ने श्रेष्ठी धन से पूछा—

"तुमने सुन्दर का दिया हुआ रत्न उसके 'पिता भीम को क्यों नहीं लौटाया?"

धन ने कहा—

"राजन्! मैंने तो रमापुर से लौटते ही एक करोड़ के मूल्य वाला रत्न सुन्दर के पिता श्रेष्ठी भीम को दे दिया था। यह झूठ बोलता है।"

राजा ने पुनः पूछा—

"तुमने किसकी साक्षी में रत्न दिया था?"

धन श्रेष्ठी ने बताया—

"मैंने श्रीधर ब्राह्मण के सामने भीम श्रेष्ठी को रत्न दिया था।"

श्रीधर ब्राह्मण ने भी साक्षी दी—

"अन्नदाता! धन श्रेष्ठी ने मेरे सामने सुन्दर का दिया हुआ रत्न उसके पिता श्रेष्ठी भीम को दिया था।"

राजा विचार में पड़ गए। उसी समय महामन्त्री मतिसागर ने श्रीधर ब्राह्मण से पूछा—

"श्रीध ! तुम्हारे सामने जो रत्न दिया गया था, वह कितना बड़ा था ?"

श्रीधर ब्राह्मण ने सोचा—'एक करोड़ मूल्य का रत्न कम-से-कम घड़े के बराबर तो होगा ही।' यह सोच उसने मन्त्री मतिसागर से कहा—

"मन्त्रीश्वर ! वह रत्न एक बड़े घड़े के बराबर था।"

इस उत्तर को सुनकर सभासद मुस्करा उठे। धन श्रेष्ठी का चेहरा भी उतर गया। झूठी गवाही का भण्डा-फोड़ हो गया। अन्त में, धन श्रेष्ठी को पराया धन अपहरण करने के अपराध में दण्ड दिया गया और झूठी साक्षी के अभियोग में ब्राह्मण श्रीधर को भी दण्डित किया गया। भीम श्रेष्ठी का रत्न उसे मिल गया।

यह कहानी सुनाने के साथ ही लक्षमति का समय पूरा हो गया और राजा को प्रणाम कर वह अपने घर चला गया। राजा ने सोचा—'लक्षमति भी शतमति जैसा ही दुष्ट मति रहा। अब मेरा काम कोटिमति ही करेगा। रात्रि के चौथे प्रहर में कोटिमति राजा की सेवा में आया। राजा ने कोटिमति को भी वही आदेश दिया—

"जाकर शतमति का वध करो। उसे समाप्त किये बिना मुझे शान्ति नहीं मिलेगी ?"

राजा की आज्ञा सुन कोटिमति ने विचार किया—'गुणों के आगार, परोपकारी शतमति को मरवाने का कोई कारण नहीं हो सकता। निश्चय ही राजा को बुद्धि-भ्रम हुआ है।' यह विचार कर कोटिमति ने राजा से कहा—

"राजन् ! पहले एक कथा सुनिये। तब मैं आपकी आज्ञा का पालन करने की चेष्टा करूँगा।"

कोटिमति कथा कहने लगा—

लक्ष्मीपुर नामक नगर में केशव नाम का एक दरिद्र ब्राह्मण रहता था। पत्नी के बार-बार उकसाने पर वह परदेश में धन कमाने गया, पर भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया। वह निर्धन-का-निर्धन ही रहा। अन्त में, वह एक देवी के मन्दिर में पहुँचा और तीन दिन तक देवी की भक्ति की। फिर भी देवी प्रसन्न नहीं हुई। तब केशव ने एक बड़ा-सा पत्थर उठाकर कहा—

"हे देवी ! इस पत्थर से मैं तेरी मूर्ति तोड़ दूँगा, तीन दिन से तेरा हृदय क्यों नहीं पसीजा ?"

मूर्ति भंग के भय से देवी प्रकट हुई और कहा—

"भक्त केशव ! मैं तेरी इच्छा जानती हूँ। लेकिन तेरे भाग्य में धन नहीं है। अगर मैं तुझे धन दे भी दूँ तो वह तेरे पास नहीं रहेगा।"

केशव ने बहुत आग्रह किया तो देवी ने दो करोड़ के मूल्य का एक रत्न उसे दे दिया। रत्न प्राप्त करके केशव बहुत खुश हुआ और जहाज में बैठकर अपने नगर को जाने लगा।

पूर्णिमा की रात थी। केशव अपने हाथ में रत्न लेकर यह देख रहा था कि चन्द्रमा की ज्योति ज्यादा कान्तिमती है, या मेरा रत्न अधिक कान्तिमान है। उलट-पलटकर वह रत्न-कान्ति और चन्द्र-कान्ति की तुलना कर रहा था कि सहसा रत्न उसके हाथ से छूट गया और रत्नाकर में समा गया।

कोटिमति ने कहा—

"राजन्! मैं तो अब घर जाता हूँ। आप मन्त्रियों से विचार करके ही कदम उठाइए, क्योंकि शतमति वध योग्य नहीं है।"

यह कहकर कोटिमति चला गया और कुपित होकर राजा विक्रमादित्य ने शतमति, सहस्रमति, लक्षमति और कोटिमति—चारों अंगरक्षकों के वध का निश्चय कर लिया। सबसे पहले तो वे शतमति को ही मरवाना चाहते थे, अतः प्रातःकाल उठते ही आरक्षी प्रमुख (कोतवाल) को आज्ञा दी कि शतमति को फाँसी पर चढ़ा दो। आरक्षी प्रमुख शतमति को पकड़कर ले गया। शतमति ने कोतवाल से कहा—

"हे कोतवाल ! फाँसी चढ़ने से पहले मैं अपना अपराध जानना चाहता हूँ।"

कोतवाल ने कहा—

"शतमति ! अपराध के विषय में तो राजा ही बता सकते हैं। मैं तो उनका आज्ञापालक ही हूँ।"

"तो फिर क्षण-भर के लिए मुझे राजा के पास ले चलो।"

शतमति की प्रार्थना स्वीकार कर कोतवाल उसे राजा के पास ले गया। शतमति राजा को लेकर उनके शयन-कक्ष में पहुँचा और घड़े में रखा चार टुकड़े किया हुआ साँप उन्हें दिखाकर आद्योपान्त सब वृत्तान्त सुना दिया। राजा विक्रमादित्य ने शतमति को वक्ष से लगा लिया। वे इतने अधिक पछताये और इतने अधिक आनन्दित हुए कि कुछ कहते नहीं बना। अन्त में, उन्होंने कई गाँव देकर शतमति को सम्मानित किया और शेष तीनों अंगरक्षकों को भी भरपूर पुरस्कार देकर उनका गौरव बढ़ाया।

□

२५

समय की सूझ

एक वार महाराज विक्रमादित्य भ्रमण को निकले और चलते-चलते एक पर्वतीय वन में पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक मुनि को कायोत्सर्ग में लीन देखा। राजा ने मन-ही-मन मुनि की वन्दना की और उनके सामने वैठ गए। राजा सोचने लगे—'ये मुनि ग्रीष्म की इस धूप में ध्यानस्थ हैं। तप से इनका ललाट चमक रहा है। जो साधु गरमी की ऋतु में आतापना लेते हैं, जाड़ों में निर्वस्त्र रहते हैं और वरसात के दिनों में अंगों को संकुचित करते हैं, वे ही संयम से सुशोभित महान साधु अथवा तपस्वी श्रमण हैं।'

ज्ञानी मुनि ने कायोत्सर्ग पूर्ण कर अपने सामने वैठे हुए राजा विक्रमादित्य को उनका नाम लेकर 'धर्म लाभ' कहा। राजा को आश्चर्य हुआ कि इनको मेरे नाम का पता कैसे लगा। ज्ञान के प्रकाश में गुह्य और अदृश्य भी उजागर हो जाता है। मुनि ने राजा को धर्मोपदेश दिया और उनकी शंकाओं का समाधान करके उन्हें सन्तुष्ट किया। इसके वाद राजा ने मुनि से कहा—

"भगवन् ! मुझे कोई एक अपूर्व विद्या दीजिए।"

ज्ञानी मुनि ने राजा की मनोकामना पूर्ण की। स्त्री चरित्र जानने के इच्छुक राजा यहाँ से आगे बढ़े और लक्ष्मीपुर नामक किसी नगर में पहुँचे। वहाँ वे एक जुआरी के अतिथि बने। जुआरी द्यूत-क्रीड़ा में मग्न था। उसने अपने सेवक को घर भेजकर अपनी पत्नी को कहलवाया कि एक अतिथि के लिए भी भोजन बनेगा। जुआरी की स्त्री ने जब भोजन बनाकर तैयार किया तो घर के पास बैठे हुए अपने पति और अतिथि विक्रमादित्य को भोजन के लिए बुलाया। भोजन का बुलावा आने पर आतिथेय जुआरी ने अतिथि राजा विक्रमादित्य से कहा—

"तुम पहले भोजन कर लो। मैं तो बाजी पूरी करके ही उठूँगा।"

राजा विक्रमादित्य जुआरी की स्त्री के पास जाकर भोजन करने लगे। राजा के रूप-सौन्दर्य और स्वास्थ्य को देखकर जुआरी की स्त्री कामबाण से घायल हो गई। उसकी काम चेष्टाओं को लक्ष्य कर राजा ने उससे कहा—

"सुभगे ! विकारों पर संयम करो। पर-पुरुष को भ्राता, पिता या पुत्र की दृष्टि से ही देखना चाहिए।"

राजा के वचनों को लक्ष्यकर उस स्त्री ने सोचा—'यह पुरुष मेरे मनोभाव को तो जान ही गया है। लेकिन यह मेरी इच्छा कदापि पूरी नहीं करेगा और बाहर जाकर

मेरी वदनामी करेगा, सो अलग। अतः इसे भी मजा चखाना चाहिए।' यह सोच जुआरी की स्त्री हल्ला मचाने लगी—"वचाओ, मुझे वचाओ। देखो इस परदेसी ने क्या कर डाला।" जुआरी ने अपनी स्त्री के शब्द सुने तो सोचा—'इस अतिथि ने अवश्य ही मेरी पत्नी के साथ छेड़छाड़ की होगी।' यह सोच क्रोध में भरा हुआ जुआरी तलवार लेकर अपने घर की ओर दौड़ा।

इधर राजा ने सोचा—'अव तो अकारण ही मेरी वदनामी और फजीहत भी हो जायेगी।' उसने झट से पेंतरा वदलकर उस स्त्री से कहा—

"भद्रे! वात को वदलो, मैं तो यों ही तुम्हारी परीक्षा ले रहा था।"

स्त्री भी छिनाल थी। उसने सोचा—

'किसी ऐसी युक्ति से इसे वचाना चाहिए कि मेरे वचन भी झूठे न पड़ें और इसके प्राण भी वच जायें।' यह सोच उस चतुर स्त्री ने चूल्हे में से जलती लकड़ी निकाली और अपने छप्पर में आग लगा दी। आग ज्यादा नहीं फैल पाई थी कि राजा विक्रमादित्य ने उसे वुझा दिया। घर में आते ही जुआरी ने अपनी स्त्री से पूछा—

"क्या हुआ? तुमसे इस परदेसी ने क्या कहा है?"

स्त्री वोली—

"देखते नहीं, कितना छप्पर जल गया है। अगर ये

वेचारे आग नहीं बुझाते तो पूरा घर ही जल जाता और मैं भी नहीं वचती।"

राजा ने सन्तोष की साँस ली और अपने भाग्य को धन्यवाद देते हुए अवन्ती आ गये। स्त्री चरित्र कितना अगम्य है, यह जानकर राजा को रह-रहकर अचम्भा हो रहा था। जब जैसा अवसर हो, तब वैसा ही रास्ता निकाल लेना स्त्री ही जानती है।

× × ×

एक वार राजा विक्रमादित्य अपनी राजसभा में बैठे थे कि दो विद्वान पण्डित उनकी सभा में आये। गुणीजनों का आदर करने वाले राजा विक्रमादित्य ने दोनों पण्डितों को आसन दिया और कुछ सुनाने को कहा। पहले पण्डित ने देववाणी संस्कृत में यह श्लोक सुनाया—

मरुत्तटिन्याः किल वालुकानां, सरित्पतेर्वारिपृष्यन्मणीनाम्।
नभस्युडूनां च शरीरिणां च, विज्ञायते नैव बुधेन संख्या॥

अर्थात् आकाशगंगा या मारवाड़ की नदी की रेती, समुद्र में रहे हुए जलविन्दु, मोती, मणि, आकाश के तारे तथा संसार के प्राणी—इन सवकी गणना वड़े-वड़े पण्डित भी नहीं कर सकते।

इस श्लोक पर प्रसन्न होकर राजा ने पण्डित को यथेष्ट पुरस्कार देकर सम्मानित किया। इसके वाद दूसरे पण्डित ने एक कविता पढ़ी—

कार्य असम्भव और कठिन सब, जाने पण्डित सोई।
परम असम्भव नारी की गति, पार न पावै कोई।।

दूसरे पण्डित की इस काव्योक्ति पर राजा विक्रमादित्य अत्यधिक प्रसन्न हुए और उससे कहा—

"हे पण्डित! तुम्हारे कथन से मैं भी सहमत हूँ। मैंने भी अपने अनुभव में यही पाया है कि नारी चरित्र पूर्णतः अगम्य है।"

इसके बाद राजा ने दूसरे पण्डित को भी भरपूर दान देकर सन्तुष्ट किया।



२६

मत्स्य-हास्य का रहस्य

[नारी चरित्र]

कहावत है—"नई नौ दिना, पुरानी सौ दिना।" नई वस्तु कुछ ही दिन नई रहती है और फिर पुरानी हो जाती है। अतः नई के आकर्षण में पुरानी का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। इस तथ्य को जानते हुए भी राजा विक्रमादित्य सब रानियों से उदासीन होकर नई रानी पद्मावती में ही लीन रहने लगे। उनके इस आचरण से सभी रानियाँ बहुत क्षुब्ध हुईं। पटरानी कमलावती, विद्याधर पुत्री कलावती, विक्रमचरित्र की माता सुकोमला, देवदमनी, शृंगारसुन्दरी, मदनमंजरी, सुरसुन्दरी, हरिताली आदि समस्त रानियों ने मिलकर राजा विक्रमादित्य से शिकायत की—

"प्राणवल्लभ ! अब तक आपका हम सब पर समान प्रेम था। लेकिन अब आपने हम सबको भुला दिया है और नई रानी पद्मावती में ही आसक्त रहते हैं। हमारे प्रेम और सेवा में क्या कमी है ?"

राजा विक्रमादित्य ने कहा—

"रानियो ! मैं अन्तर का प्रेम जानकर ही प्रेम करता हूँ। रानी पद्मावती मुझसे हार्दिक प्रेम करती है और तुम सबका प्रेम दिखावटी है।"

राजा के इस कथन पर देवदमनी ने कहा—

"स्वामी ! नारी का प्रेम कितना सच्चा और कितना नाटकीय होता है, इसे कोई नहीं जानता। कोई-कोई नारी ऐसी पतिव्रता बनती है कि लौकी को लौका नहीं कह सकती। पुल्लिग नाम से ही उसे द्वेष होता है, पर परपुरुष से गुप्त रति करती है। ऐसी नारी का पति और अन्य पुरुष उसे परम पतिव्रता समझते हैं।"

राजा विक्रमादित्य ने हँसकर पूछा—

"देवदमनी ! क्या तुम किसी ऐसी विचित्र पतिव्रता नारी के विषय में जानती हो ? क्या किसी युग में कोई ऐसी नारी भी हुई है, जो पुरुष नाम की वस्तु से द्वेष करती हो और पर-पति से प्रेम करती हो ?"

देवदमनी ने कहा—

"स्वामी ! मैं आपको ऐसी ही एक रानी की कथा सुनाती हूँ, जिसके गुप्त प्रेम का रहस्य बड़े अद्भुत ढंग से खुला था।"

देवदमनी कथा सुनाने लगी—

एक राजा था। उसकी रानी राजा से बहुत प्रेम करती थी। सदा अपने हाथ से परोसकर राजा को भोजन कराती और राजा की थाली के बचे हुए भोजन को करके अपने अनन्य प्रेम का परिचय देती। एक बार राजा जब भोजन करने बैठा तो उसने अपनी थाली का बचा भोजन रानी को दिया। रानी भोजन करने बैठी और जैसे ही थाली में हाथ डाला कि चौंककर उठ खड़ी हुई। उसके इस आचरण को देखकर रानी से राजा ने आश्चर्य के साथ पूछा—

"प्रिये ! तुम एकदम क्यों उठ खड़ी हुई ? क्या इस भोजन में आज तुम्हारी रुचि नहीं है ? अचानक ही तुम्हारी इस रुचि-परिवर्तन का क्या कारण है ?"

रानी ने गम्भीर होकर कहा—

"स्वामी ! इस भोजन से मेरी प्रतिज्ञा का भंग होता है, इसलिए मैं यह भोजन नहीं करूँगी। अब मैं दूसरा भोजन करूँगी।"

रानी के इस कथन से राजा को और भी आश्चर्य हुआ, उसने पूछा—

"हे रानी ! ऐसी तुम्हारी कौन-सी प्रतिज्ञा है, जो तुम्हारे इस भोजन से भंग होती है ?"

रानी ने स्पष्टीकरण दिया—

"स्वामी ! इस थाली में नर मीन चित्रित किया हुआ

है। मैंने यह प्रतिज्ञा की है कि आपके अलावा मैं पर-पुरुष का कभी स्पर्श नहीं करूँगी। यदि यह मछली होती तो कोई बात नहीं थी। पर चूँकि यह नरमत्स्य अथवा मछला है, इसलिए मैं इसका स्पर्श नहीं करूँगी। पुरुष, पुरुष ही है, भले ही वह जड़ हो अथवा चैतन्य।"

रानी के इस कथन को सुनकर थाली में चित्रित निर्जीव मत्स्य एकाएक ही हँस पड़ा और शान्त हो गया। ऐसा लगा मानो उस मृत-निर्जीव मत्स्य में क्षणभर के लिए कोई देव प्रविष्ट हो गया हो। राजा उस मत्स्य से उसके हँसने का कारण कैसे पूछता? अतः उसने रानी से ही पूछा—

"रानी! तुम्हारी प्रतिज्ञा भी अद्भुत, विचित्र और साथ ही सराहनीय है। लेकिन इस निर्जीव मत्स्य का हँसना तो और भी विचित्र है। अतः तुम मुझे इसके हँसने का कारण बताओ। तुम इसके हँसने का कारण अवश्य जानती होगी, क्योंकि यह मत्स्य तुम्हारे कथन पर ही हँसा है।"

रानी ने अपना पीछा छुड़ाते हुए कहा—

"स्वामी! दूसरे के मन का रहस्य, भला मैं कैसे बता सकती हूँ? मैं तो अपने मन की बात ही जानती हूँ। मेरे मन में जो था, सो मैंने आपसे कह दिया। यह मत्स्य क्यों हँसा, इसका कारण मैं नहीं जानती। मेरी और आपकी

एक ही स्थिति है, जहाँ आप, वहाँ मैं। जव आप ही नहीं जानते तो मैं कैसे जान सकती हूँ ?"

राजा को रानी के इस उत्तर से सन्तोष नहीं हुआ और वे मत्स्य हास्य का रहस्य जानने के लिए उत्सुक और चिन्तित हो उठे। उन्होंने अनेक पण्डितों और ज्योतिषियों को वुलाया और सबसे मत्स्य-हास्य का कारण पूछा, पर कोई भी इस विचित्र और अनहोनी घटना का रहस्य नहीं वता सका। अन्त में, राजपुरोहित से पूछा तो वह भी निरुत्तर रहा। तब राजा ने खीझकर राजपुरोहित की भर्त्सना करते हुए कहा—

"पुरोहित जी ! आपके रहने से क्या लाभ, जवकि आप मेरी चिन्ता का निवारण नहीं कर सकते ? अतः तीन दिन के अन्दर यदि आप मत्स्य-हास्य का रहस्य नहीं वतायेंगे तो आपको मेरे राज्य में रहने का कोई अधिकार नहीं है।"

राजा की लताड़ और देश निकाले की चेतावनी सुनकर राजपुरोहित खिन्न वदन अपने घर पहुँचा। उसकी पुत्री वालपण्डिता ने पिता की उदासी का कारण पूछा तो उसने सव वृतान्त अपनी पुत्री को कह सुनाया। सव कारण जानने के वाद पुरोहितपुत्री वाल-पण्डिता ने अपने पिता से कहा—

"पिताजी ! आप राजा से कहिए कि मैं उन्हें मत्स्य-हास्य का कारण बताऊँगी।"

पुरोहित वहुत प्रसन्न हुआ और प्रसन्न मुख राजा के पास पहुँचकर बोला—

"राजन् ! मेरी पुत्री आपको मत्स्य-हास्य का रहस्य वतायेगी ।"

राजा ने ससम्मान पुरोहितपुत्री वालपण्डिता को वुलाया और उसे उच्च आसन पर एक परदे के पीछे वैठाया। मत्स्य-हास्य का रहस्य सुनने के लिए राजा के साथ उसकी रानी तथा अन्य अमात्य जन भी बैठे। वाल-पण्डिता ने राजा को सम्वोधित करते हुए कहा—

"राजन् ! आप मत्स्य-हास्य का कारण न पूछें तो अच्छा है, क्योंकि शरीर और घर का रहस्य ढँका हुआ ही अच्छा रहता है। इस शरीर के अन्दर मल-मूत्र, थूक, मज्जा आदि अनेक घृणित वस्तुएँ हैं, अतः उनके ढँके होने के कारण शरीर घृणित नहीं लगता। उनका अनावृत्त होना कितना वुरा है, यह विचार कर आप मत्स्य-हास्य के रहस्य को रहस्य ही वना रहने दीजिये, वरना आपको भी उसी तरह पछताना पड़ेगा, जैसे मण्डक लकड़हारे को पछताना पड़ा था।"

वालपण्डिता की वात सुनकर राजा ने पूछा—

"पहले तुम यह वताओ कि मण्डक कौन था और उसे क्यों पछताना पड़ा था।"

वालपण्डिता ने कहा—

मण्डक का पछताना—श्रीपुर नामक नगर में कमल नाम का एक लकड़हारा था, जो गरीबी के कष्ट से सदा पीड़ित रहता था। वह नित्य जंगल से लकड़ियाँ काटकर लाता और मुश्किल से अपने परिवार का उदर-पोषण कर पाता था। एक दिन जंगल में घूमते हुए उसे एक पुराना मन्दिर मिला। उसमें गणेशजी की एक बड़ी काष्ठ-प्रतिमा थी। उस काष्ठ-प्रतिमा को देखकर कमल ने मन-ही-मन निश्चय किया कि इस मूर्ति में तो ढेर सारी सूखी लकड़ी निकलेगी। आज इसी को काटकर ले जाऊँगा। अच्छे पैसे मिल जायेंगे। यह निश्चय करके वह कुल्हाड़ी लेकर गणेश-प्रतिमा काटने को उद्यत हुआ। उसी समय उस मूर्ति में से आवाज आई—

"हे लकड़हारे! तू मेरी प्रतिमा को मत काट। इसके बदले मैं तुझे एक ऐसा साधन देता हूँ, जिससे तेरी सभी इच्छाएँ पूरी हो जायेंगी।

"लकड़हारे! तू नित्य प्रातःकाल यहाँ आया कर। यहाँ से तुझे नित्य ही मण्डक (मालपुए) और पाँच मुद्राएँ मिल जाया करेंगी। मालपुओं से तेरा, तेरे परिवार का और अतिथियों का उदर पोषण होगा और मुद्राओं से तेरी अन्य आवश्यकताएँ पूरी हो जाया करेंगी।"

"लकड़हारे! लेकिन तुझे एक बात की सावधानी रखनी होगी कि इस प्राप्ति का रहस्य गुप्त रखना होगा। अगर तूने मण्डक और मुद्राओं की प्राप्ति का रहस्य खोल

दिया तो तुझे आगे से मण्डक और मुद्राएँ मिलना वन्द हो जायेगा।"

अव कमल का जीवन आनन्द से कटने लगा और वह श्रीपुर में मण्डक नाम से प्रसिद्ध हो गया। एक दिन उसकी पत्नी ने हठ करके पूछा—

"स्वामी! आप नित्य ही मण्डक और पाँच मुद्राएँ कहाँ से लाते हैं?"

मण्डक ने टालने का वहुत प्रयत्न किया, पर त्रिया-हठ से लाचार होकर उसे सव रहस्य वताना पड़ा और परिणाम वही हुआ, जो होना था। मंण्डक को मालपुए और मुद्राएँ मिलना वन्द हो गया।

यह कथा सुनाने के वाद वालपण्डिता ने राजा से पुनः कहा—

"हे राजन्! इसीलिए आपसे कहती हूँ कि आप मत्स्य-हास्य का कारण जानने का हठ छोड़ दें, वरना आप भी मण्डक की तरह पछतायेंगे।"

राजा ने कुछ विचार किया और आगे वात नहीं वढ़ाई। सभा विसर्जित हो गई। वालपण्डिता राजभवन की अतिथिशाला में ही रुक गई। दूसरे दिन राजा ने फिर वालपण्डिता से मत्स्य-हास्य का कारण जानना चाहा तो वुद्धिमती विप्रकन्या ने कहा—

"राजन्! मत्स्य-हास्य का कारण जानकर आप

सिन्दूर-पद्म किसान की तरह दुखी होंगे। मैं आपको सिन्दूर प्राप्त पद्म नामक किसान की कथा सुनाती हूँ।"

सिन्दूर-पद्म—पद्मपुर नामक नगर में पद्म नाम का एक किसान रहता था। पद्म किसान बहुत धनी था। उसके खेतों में बहुत अन्न पैदा होता था, मानो धरती सोना उपजाती थी। धन कभी स्थायी नहीं रहता। लक्ष्मी चंचला है न। सो भाग्य योग से पद्म किसान अत्यन्त निर्धन हो गया। अतिवृष्टि और अनावृष्टि से उसके खेतों में कई साल तक पैदावार नहीं हुई। दरिद्रता का मारा पद्म देशान्तर के लिए चला और एक जंगल में पहुँचा। वहाँ उसकी भेंट एक सिद्ध योगी से हुई। योगी ने पद्म को देवाधिष्ठित सिन्दूर दिया। सिन्दूर की विशेषता थी कि वह पाँच सौ स्वर्ण मुद्राएँ रोज देता था लेकिन योगी की शर्त थी कि सिन्दूर का रहस्य खोल देने पर वह पुनः योगी के पास पहुँच जायेगा और फिर प्राप्त नहीं होगा।

धन पाकर प्रायः मनुष्य विवेकहीन हो जाता है। इस तथ्य के आधार पर पद्म किसान एक वेश्या के प्रेमरंग में आसक्त रहने लगा। वेश्या भी उसे बहुत चाहती थी, क्योंकि पद्म किसान वेश्या को पाँच सौ मुद्राएँ नित्य देता था। वेश्या की माँ ने अपनी बेटी से कहा—

"तू इस परदेसी से यह रहस्य प्राप्त करले कि यह यथेष्ट धन तुझे रोज कैसे देता है। फिर रोज माँगने का झंझट ही मिट जायेगा।

कामिनी के आगे वड़े-वड़े धीर-वीर झुक जाते हैं। वेश्या के नाटकीय प्रेमाग्रह से विवश होकर पद्म ने सिन्दूर का रहस्य वता दिया और फिर जीवन भर पछताता रहा।

इस कहानी को सुनने के बाद दूसरा दिन भी खाली वीत गया। इस कहानी से राजा की जिज्ञासा कुछ कम अवश्य हुई, पर पूरी तरह शान्त नहीं हुई। अतः राजा ने तीसरे दिन फिर आग्रह किया। वालपण्डिता ने राजा को फिर समझाया—

"राजन्! मैं मत्स्य-हास्य का कारण तो आपको अवश्य ही वता सकती हूँ। फिर भी आपसे कहती हूँ कि आप न पूछें, यही अच्छा है, क्योंकि आपको रमा की तरह पछताना पड़ेगा। आज रमा नाम की रानी के पछताने की कथा भी सुनें।"

रमा की कथा—लक्ष्मीपुर नामक नगर में मुकुन्द नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी रमा वहुत सुन्दर थी और अपने पति राजा मुकुन्द से वहुत प्रेम करती थी। एक वार लक्ष्मीपुर में पड़ोसी राजा चन्द्र राजा मुकुन्द का अतिथि वनकर आया। उसके रूप को देखकर रानी रमा उस पर आसक्त हो गई और उसके विरह में दुखी होने लगी। राजा मुकुन्द ने रानी की उदासी का कारण उससे पूछा तो उसने कुछ का कुछ वताकर राजा को वहला दिया। लेकिन जव रानी रमा राजा चन्द्र का

विरह सहन नहीं कर पाई तो वह वात-वात पर अपने पति राजा मुकुन्द से झगड़ने लगी। उसके इस क्लेश से राजा मुकुन्द वहुत दुःखी हुआ और वहुत प्रयास करने पर रानी के क्रोध को शान्त नहीं कर सका। तव रमा रानी ने एक दिन स्पष्ट शब्दों में कह दिया—

"मैं अब आपके पास नहीं रहना चाहती। मैं राजा चन्द्र की रानी वनूँगी। अतः आप मुझे सम्बन्ध-विच्छेद का प्रमाण दे दें, ताकि मैं अपने मन पसन्द राजा चन्द्र की प्रिया बन सकूँ।"

रमा की इस अनपेक्षित वात को सुनकर राजा मुकुन्द ने उसे समझाया—

"हे रानी ! ऐसा तुम क्यों कहती हो ? आर्य कन्या जीवन में एक ही वार विवाह करती है। जिस यौवन-सुख के लिए तुम राजा चन्द्र के पास जाना चाहती हो, वह यौवन स्थायी नहीं है।"

"हे रानी ! जैसे ऐश्वर्य की शोभा मधुरता, शौर्य की शोभा संयम, ज्ञान का भूषण शान्ति, शास्त्र ज्ञान की शोभा विनय, धन का भूषण उसका सदुपयोग, अर्थात् पात्रदान में व्यय, तप का भूषण अक्रोध, अधिकार की शोभा क्षमा और धर्म का भूषण दम्भरहित होना है, उसी तरह सर्वोत्तम और सव गुणों का आश्रय नारी का भूषण

उसका शील है।'[1] इसलिए तुम राजा चन्द्र के पास जाने का विचार छोड़ दो।"

राजा के बहुत बार समझाने पर भी रमा ने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा तो विवश होकर राजा मुकुन्द ने अपनी ओर से रानी रमा को सम्बन्ध-विच्छेद का लिखित प्रमाण दे दिया। प्रसन्न होकर रानी रमा ने राजा चन्द्र के नगर के लिए प्रस्थान किया। इधर राजा मुकुन्द ने एक अन्य स्त्री से विवाह कर लिया, जो बहुत ही विनयवती और बुद्धिमती थी।

जब रानी रमा राजा चन्द्र के नगर में गई तो उसे पता लगा कि अभी-अभी राजा चन्द्र की मृत्यु हो चुकी है। रानी रमा इस सूचना से बहुत पछताई और निराश होकर पुनः लक्ष्मीपुर राजा मुकुन्द के पास आई। लेकिन राजा मुकुन्द ने उसे स्वीकार नहीं किया और उसकी भर्त्सना करते हुए कहा—

"जिस चन्द्र को तुम मन से अपना पति मान चुकी थीं, तुम्हें उसी के साथ चिता में जलकर सती होना चाहिए था। मेरे पास तुम्हारा क्या काम? मैंने तो तुम्हें

---

१ ऐश्वर्यस्य विभूषणं मधुरता, शौर्यस्य वाक्संयमो।
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः॥
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभावतो धर्मस्य निर्व्याजता।
सर्वेषामपि सर्वकामगुणितं शीलं परं भूषणम्॥

वहुत समझाया था, लेकिन तुम तो काम-पीड़ा से अन्धी थीं। अव जिसे एक वार मैं त्याग चुका, उसे स्वीकार नहीं कर सकता। तुम तो मेरे घर में दासी के योग्य भी नहीं हो।"

रमा दोनों ओर से गई। उसका अपना घर भी गया और राजा चन्द्र भी उसे नहीं मिला।

वालपण्डिता ने राजा से कहा—

"राजन् ! आपको रानी रमा की तरह पछताना न पड़े, इसीलिए मैं आपसे आग्रह करती हूँ कि आप मत्स्य-हास्य का रहस्य न पूछें।"

जिस तरह वाल-हठ और त्रिया-हठ प्रसिद्ध है, उसी तरह राज-हठ भी प्रसिद्ध है। अतः वालपण्डिता के वार-वार समझाने पर भी राजा ने मत्स्य-हास्य का रहस्य जानने का हठ नहीं छोड़ा। तब विवश होकर वाल-पण्डिता ने कहा—

"राजन् ! आपका पुष्पहास नामक मन्त्री जेल में है। उसे कारागार से शीघ्र ही मुक्त करके यहाँ वुलाइए। उस पर देव प्रसन्न है। देव के प्रभाव से वह सव रहस्य वताने में समर्थ है।"

राजा ने तुरन्त आदर के साथ पुष्पहास मन्त्री को सभा के मध्य बुलाया। आते ही मन्त्री हँसा तो उसके मुख से फूल झड़े। राजा ने पुष्पहास मन्त्री से पूछा—

"मन्त्री ! तुम मुझे मत्स्य-हास्य का कारण बताओ ।"

मन्त्री ने कहा—

"राजन् । आप कागज और दवात-कलम मँगवाइए । मेरे ऊपर जो देव प्रसन्न है, वह उसमें सब रहस्य लिख देगा । सबके सामने रहस्योद्‌घाटन होना उचित नहीं ।"

अदृश्य रूप से देव ने कागज पर मत्स्य-हास्य लिख दिया । राजा ने पढ़ा । उसमें लिखा था—

"हे राजा ! आपकी रानी आपके महावत से प्रेम करती है । उस दिन वह भोजन के थाल में नर-मत्स्य को देखकर ऐसी उचटी थी, मानो यह सीता का अवतार हो। उसके इस नाटकीय पतिप्रेम को देखकर ही चित्रित मत्स्य हँसा था ।"

"राजन् ! आपकी रानी जब तब अवसर निकालकर महावत के पास जाती है और देर से पहुँचने पर या कभी न पहुँचने पर महावत इसे कोड़ों से पीटता है । यदि आप इस रहस्य का प्रमाण जानना चाहें तो रानी की पीठ को उघाड़कर देखें, उस पर कोड़ों के निशान होंगे ।"

राजा ने देवलिखित मत्स्य-हास्य का कारण पढ़ा और रानी के नाटकीय प्रेम को जानकर बहुत दुःखी हुआ ।

यह सब वृत्तान्त रानी देवदमनी राजा विक्रमादित्य को सुना रही थी । सम्पूर्ण कहानी सुनाने के बाद रानी देवदमनी ने राजा विक्रमादित्य से कहा—

"स्वामी ! इसीलिए मैं कहती हूँ कि आपको हम सब रानियों को समान रूप से प्रेम करना चाहिए। आजकल आप केवल नई रानी पद्मा में ही आसक्त रहते हैं। आपसे कौन रानी अधिक प्रेम करती है और कौन कम, इसको आप ऊपरी व्यवहार से कैसे जान सकते हैं ?"

मत्स्य-हास्य की इस अद्भुत कथा को सुनकर राजा विक्रमादित्य ने रानी देवदमनी को धन्यवाद दिया और सभी रानियों में समान प्रीति रखने लगा। वास्तव में त्रिया-चरित्र की परतों का कहीं अन्त नहीं। एक के बाद एक अनेक परतें खुलती ही चली जाती हैं। विवेकी मनुष्य स्वयं को सँभाले रखता है।



६- विचार-वैभव ——— २)
७- राजस्थान केसरी : जीवन और विचार ——— ७)
८- संस्कृति के अंचल में ——— २)
९- संस्कृति रा सुर ——— ५)
१०- राम राज ——— २)
११- मिनख पणैरो मोल ——— २)
१२- ओंकार : एक अनुचिन्तन ——— २)
१३- नेम वाणी ——— ३)
१४- श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र ——— २)
१५- मेघ कुमार ——— २)
१६- बुद्धि के चमत्कार ——— १.५०
१७- अतीत के कम्पन ——— २)
१८- गागर में सागर ——— २)
१९- महावीर : जीवन और दर्शन ——— २)
२०- लार्ड महावीर ——— २)
२१- सोना और सुगन्ध ——— २)
२२- जैन कथाएं (२५ भाग) प्रत्येक भाग ——— ३)



सम्पर्क करें —

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्किल, उदयपुर (राजस्थान)